गांधी-मार्ग

विनोबा □ दलाई लामा □ गोपालकृष्ण गांधी

रजी अहमद □ चेतना जोशी □ सत्यब्रत रायबर्धन

जुनै माव्ल्यानोव □ प्रभाष जोशी

बापू के चरणों में

सितंबर-अक्तूबर 2014

गांधी-मार्ग ई मेल पर

अब गांधी-मार्ग को आप ई मेल पर भी
प्राप्त कर सकते हैं। अभी यह सुविधा कुछ पाठकों
तक अनौपचारिक ढंग से पहुंच रही थी। उन्हीं में से
कुछ का सुझाव है कि अन्य पाठकों तक भी
इसकी सूचना जानी चाहिए। इससे डाक में अनावश्यक विलंब,
खर्च आदि तो बचेगा ही।

आप यदि इस तरह गांधी-मार्ग को प्राप्त करना चाहते हैं
तो हमें अपना ई-मेल पता gmhindi@gmail.com पर भेजें।
यह भी सूचित करें कि क्या आपको डाक से भेजी जा रही
प्रति भी चाहिए।

*

कृपया यह भी ध्यान में रखें कि कुछ नए
नियमों के कारण 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम आने वाले
चैक/डी.डी. कुछ दिक्कत दे रहे हैं। इसलिए अब पत्रिका के नाम
भेजे जाने वाले चैक/डी.डी.
'गांधी पीस फाउंडेशन' अथवा 'Gandhi Peace Foundation'
के नाम से ही भेजें।

*

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 56, अंक 5, सितंबर-अक्तूबर 2014

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1. बापू के चरणों में	विनोबा	3
2. बस इतना पर्याप्त है	पावन दलाई लामा	13
3. आज का जमानाः हमारा समय	गोपालकृष्ण गांधी	16
4. सत्याग्रह, हलुवा और हकीकी जिंदगी	रजी अहमद	27
5. शाकाहार के बहाने	चेतना जोशी	34
6. छिटमहल : छिटके पड़े नागरिक	सत्यब्रत रायबर्धन	39
7 **पुराना चावलः**		
घर लौटने के लिए	जुनै माव्ल्यानोव	43
8. **पोथी पढ़ि पढ़िः**		
खुशबू का शिलालेख	प्रभाष जोशी	51
9. **टिप्पणियां**		58
10.**पत्र**		61

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी पीस फाउंडेशन' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित
फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734
Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

बापू के चरणों में

विनोबा

बापू का जन्म दिन न जाने कहां-कहां अपने-अपने ढंग से मनाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ, विभिन्न सरकारों के बड़े खर्चीले भव्य मंचों से लेकर किसी छोटे से कस्बे की किसी टूटी-फूटी सड़क या चौराहे पर लगी उनकी मूर्ति के किनारे तक। इन आयोजनों में होने वाली बड़ी-बड़ी बातों को एक तरफ सरकाते हुए विनोबा सन् 1966 में दरभंगा (बिहार) के एक छोटे से गांव में उनका जन्म दिन मनाते हुए कहते हैं कि गांधीजी को अवतार मत बना देना, नहीं तो वे हमारे लिए किसी काम के नहीं रह जाएंगे। उनका मानवरूप कायम रखें। उनकी सत्यनिष्ठा, सरलता को पकड़ें। सत्य के लिए, सचाई के लिए किसी षडयंत्र की जरूरत ही नहीं पड़ती।

विनोबा का जन्म दिन पड़ता है सितंबर में और गांधीजी का अक्तूबर में। इन दोनों को एक साथ स्मरण करने का इससे सुंदर सरल तरीका और कैसे मिलेगा?

एक बार ईसा से पूछा गया कि परमात्मा के घर में किन का प्रवेश होगा? पास में एक चबूतरा था। उस पर कुछ बच्चे बैठे थे। ईसा ने एक छोटे-से बच्चे को खड़ा किया और कहाः 'जो लोग इस बच्चे के सामने होंगे, उन्हें परमात्मा के घर में प्रवेश मिलेगा।'

उपनिषद् कहता हैः पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्– अर्थात् 'ब्राह्मण अपने ज्ञान को पचा कर बाल-भाव से रहे। ज्ञान पचा कर अज्ञानी बन जाए। उपनिषद् के इसी वाक्य पर ब्रह्मसूत्र में भी चर्चा आई है। कहा गया है कि

बाल-भाव से रहना यानी क्या? किं बालवत् कामचारवादभक्षता– जैसे बच्चे कहीं भी कीचड़ या गंदगी में हाथ डालते हैं, कुछ भी खा लेते हैं, कुछ भी निगल जाते हैं, क्या वैसा करें? स्पष्ट है कि ऐसा पूछने वाला भी कोई बच्चा ही होगा। इस पर उत्तर दिया गया है: अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् यानी बच्चा दंभरहित होता है। वह वैसा है, जैसा लोगों के सामने दीखता है। उसे छिपाना मालूम नहीं। वैसा ही होना चाहिए।

वर्डस्वर्थ की भी ऐसी ही एक कविता है: 'हेवन लाइज...' यानी बचपन में हम परमात्मा के नजदीक होते हैं। बच्चों में दंभ नहीं होता। बच्चे गुस्सा भी करते हैं। देखा गया है कि छोटे-छोटे बच्चे बहुत गुस्सा करते हैं। उसे हम शैतानी कहते हैं। वह उनका स्वाभाव ही होता है। लेकिन ऐसा बच्चा आपको नहीं मिलेगा, जो छिपाना जानता हो, झूठ को जानता हो। जब से वह झूठ पहचानने लगे तो समझ लें कि उसने हमसे कुछ तालीम पा ली। माता-पिताओं ने उसे अपनी कुछ अक्ल दे दी!

गांधीजी में गुण अनेक थे तो दोष भी होने ही चाहिए। मानवमात्र में गुण और दोष दोनों ही होते हैं। लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि वे छिपाना नहीं जानते थे। उन्होंने लिखा भी है कि 'सत्य की ढाल में मैं पचासों खतरों से बच गया।' सत्य को वे ढाल कहते थे।

गांधीजी में गुण अनेक थे तो दोष भी होने ही चाहिए। मानवमात्र में गुण और दोष दोनों ही होते हैं। लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण यह था कि वे छिपाना नहीं जानते थे। उन्होंने लिखा भी है कि 'सत्य की ढाल में मैं पचासों खतरों से बच गया।' सत्य को वे ढाल कहते थे।

एक बार इसी पर बड़ी मनोरंजक चर्चा चली। मैंने किसी जगह एक मौके पर कहा कि 'सत्याग्रही का शस्त्र है सत्य और अहिंसा है उसकी ढाल। तो मेरे सामने बापू का एक वाक्य रखा गया जिसमें शायद यह था 'अहिंसा है शस्त्र और सत्य है ढाल।' मैंने सुन लिया और कह दिया कि 'भाई, जो भी उनकी ढाल हो और जो भी मैंने ढाल बताई हो। लेकिन मेरी अपनी ढाल तो है समन्वय, मेल-जोल करना।' मैं दोनों विचारों को कबूल कर लेता हूं। सोचें तो सत्य को शस्त्र भी कह सकते हैं और ढाल भी। इसी तरह अहिंसा को भी शस्त्र और ढाल दोनों कह सकते हैं। फैसला करना कठिन है। सत्य के साथ अहिंसा आती ही है। गांधीजी ने एक बार कहा कि "अहिंसा तो मुझे पीछे मिली, सत्य की खोज करते हुए। ध्यान में आया कि सत्य की खोज

अहिंसा द्वारा ही हो सकती है, हिंसा द्वारा नहीं।" आध्यात्मिक क्षेत्र में यह बहुत बड़ी खोज मानी जाएगी कि सत्य की खोज के लिए अहिंसा रास्ता है।

एक तो सत्य वह है, जिसकी व्याख्या करने की कतई जरूरत नहीं, जिसे हम और आप सभी जानते हैं। एक परम सत्य है, जिसकी खोज में सब लगे हुए हैं और अभी तक वह पूरी नहीं हुई है। खोज जारी है। मानव जितना उसके निकट जा रहा है, उतना वह दूर-दूर भाग रहा है। आज हम सत्य की कल्पना करते हैं तो ऐसा भास होता है कि उसके निकट पहुंच रहे हैं। उतने में दृष्टि विशाल हो जाती है और सत्य का और गहरा अर्थ ध्यान में आता है। फिर अंतर पहले से कुछ बढ़ ही जाता है।

सत्य की व्याख्या आप चाहते हैं तो आपके लिए कर देता हूं– सत्य यानी मिश्री। वे बोले कि आप मजाक कर रहे हैं। मैंने कहा कि अगर यह व्याख्या नहीं जंची तो समझ लीजिए कि सत्य यानी खजूर। पर वे कहने लगेः 'यह भी ठीक नहीं, मजाक है।' मैंने कहाः 'बताओ तब क्या कहूं, कि मजाक न समझोगे? मतलब यह कि सत्य तुम जानते ही हो, फिर व्याख्या क्यों पूछते हो भाई?

हमें एक मिसाल याद आती है। बचपन में हम बहुत बार पहाड़ों पर घूमे हैं। वहां पर्वत होते हैं पर्वत! मामूली टीले या मामूली पहाड़ नहीं। 'पर्व-पर्व' जिस पर चढ़ना होता है, उसका नाम है 'पर्वत'। वहां पर्वत के नीचे खड़े रहते हैं तो लगता है कि इतना टीला चढ़ जाएं तो बस पर्वत समाप्त है। पर उतना चढ़ गए तो एकदम दूसरा एक टीला सामने खड़ा हो जाता है और पता चलता है कि अभी इस पर और चढ़ना पड़ेगा। उस पर चढ़ गए तो और एक खड़ा मिलता है। उसके पीछे पुनः और एक है ही। इसी का नाम है पर्वत। हमारा यह जीवन भी पर्वत के समान है। आरोहण यानी उत्तरोत्तर चढ़ते जाना है। यहां कुछ प्राप्ति हो रही है, ऐसा लगता है तो उतने में ध्यान में आता है कि यह पूरी प्राप्ति नहीं, क-का-कि-की ही है। साध्य तो और आगे है। वेद में मंत्र आया है : सानोः सानुम् आरोहन्– एक शिखर से दूसरे शिखर पर चढ़ता चला जाता है। इस प्रकार एक सत्य का थोड़ा-थोड़ा आकलन होता है, उतने में ध्यान में आता है कि सत्य की गहराई में पहुंचे नहीं हैं, सत्य और आगे है। यह है सत्य की खोज।

लेकिन एक सत्य ऐसा है, जो हर बच्चा जानता है और वही हम और आप सबका आधार है। जिस सत्य की खोज करनी है, वह तो जीवनभर का प्रयास है। लेकिन जिसके आधार पर वह खोज करनी है वह मूल सत्य आपको, हमें,

सबको– बच्चे तक को प्राप्त है। एक बार चर्चा चल रही थी। किसी ने कहा कि सत्य की व्याख्या करें। मैंने मजाक में कहा सत्य की व्याख्या आप चाहते हैं तो आपके लिए कर देता हूं– सत्य यानी मिश्री। वे बोले कि आप मजाक कर रहे हैं। मैंने कहा कि अगर यह व्याख्या नहीं जंची तो समझ लीजिए कि सत्य यानी खजूर। मिश्री मीठी थी, फिर भी उन्हें नहीं जंची। मैंने सोचा कि उन्हें मिश्री नहीं, खजूर अच्छा लगता हो, तो कह दिया सत्य यानी खजूर। पर वे कहने लगेः 'यह भी ठीक नहीं, मजाक है।' मैंने कहाः बताओ तब क्या कहूं, कि मजाक न समझोगे? मतलब यह कि सत्य तुम जानते ही हो, फिर व्याख्या क्यों पूछते हो भाई?

हम बच्चों को झूठ तब सिखाते हैं, जब पहली बार उनसे कहते हैं कि बच्चो, सत्य बोलो। उनके सामने सवाल खड़ा हो जाता है कि सत्य नहीं तो और क्या बोलने को होता है? बच्चा तो पहचानता ही नहीं कि सत्य के अलावा और कोई चीज बोली जाती है। 'सत्य बोलो' इसी वाक्य से हम उसे असत्य में प्रवेश कराते हैं।

व्याख्या सही है या नहीं, यह जिस कसौटी पर कसा जाता है, वही सत्य है। कोई सत्य की व्याख्या करना चाहे तो कर ही नहीं सकता। हर चीज की व्याख्या जिसके आधार पर की जाती है, वह एक बुनियादी चीज है और वह अव्याख्येय, अनडिफाइंड रहेगी। उसकी व्याख्या नहीं होगी, पर वह हम सबको मालूम है।

हम बच्चों को झूठ तब सिखाते हैं, जब पहली बार उनसे कहते हैं कि बच्चो, सत्य बोलो। उनके सामने सवाल खड़ा हो जाता है कि सत्य नहीं तो और क्या बोलने को होता है? बच्चा तो पहचानता ही नहीं कि सत्य के अलावा और कोई चीज बोली जाती है। 'सत्य बोलो' इसी वाक्य से हम उसे असत्य में प्रवेश कराते हैं, यह बड़ी अजीब-सी बात है। उसकी सत्य पर कितनी श्रद्धा होती है। मां बच्चे से कहती हैः 'वह देखो चांद! तो वह मान लेता है कि हां, चांद है। उसके मन में शंका होती तो दस-पांच लोगों से पूछ लेता कि 'भाई क्या यही चांद है? आपकी क्या राय है? पर वह ऐसा नहीं करता। मां ने बता दिया कि यह चांद है तो एकदम मान लिया कि हां यह चांद ही है। उसे मालूम ही नहीं कि दुनिया में कोई झूठ बोल सकता है। लोग जो बोलते हैं, सो सत्य ही बोलते हैं।

जेलर की एक विशेष मनोवृत्ति होती है। वह मानता है कि हर कोई झूठ बोलता है। अगर कोई झूठ नहीं बोलता तो उससे कहा जाता है कि सबूत पेश

करो। उसने ठीक सबूत पेश किया तो मान लिया जाता है कि हां यह झूठ नहीं बोला था। पर बगैर सबूत के हरेक को झूठा ही मानना चाहिए। जेलर, पुलिस वगैरह को यही तालीम मिलती है कि हर एक को बदमाश मानो। सबूत के बाद ही किसी को सज्जन मानना। पर बच्चे की मनस्थिति इससे बिलकुल उलटी है। जो कहा जाएगा उसे वह एकदम सही मान लेगा। आगे कहीं वह झूठ साबित हुआ तो अलग बात है, लेकिन प्रथम श्रवण में वह उसे सत्य ही मानेगा, क्योंकि उसका चित्त बिलकुल सरल है, टेढ़ा नहीं है।

जेलर की एक विशेष मनोवृत्ति होती है। वह मानता है कि हर कोई झूठ बोलता है। अगर कोई झूठ नहीं बोलता तो उससे कहा जाता है कि सबूत पेश करो। जेलर, पुलिस वगैरह को यही तालीम मिलती है कि हर एक को बदमाश मानो। सबूत के बाद ही किसी को सज्जन मानना। पर बच्चे की मनस्थिति इससे बिलकुल उलटी है। जो कहा जाएगा उसे वह एकदम सही मान लेगा। आगे कहीं वह झूठ साबित हुआ तो अलग बात है, लेकिन प्रथम श्रवण में वह उसे सत्य ही मानेगा, क्योंकि उसका चित्त बिलकुल सरल है, टेढ़ा नहीं है।

आप देखेंगे कि मनुष्य की आंख भगवान ने कैसी बनाई है– वह चाहे किसी कोण से देखे, सीधा ही देखती है। आंख कभी टेढ़ा नहीं देख सकती। सूर्य की किरणें भी बिलकुल सीधी आती हैं। वे कभी टेढ़ी-मेढ़ी नहीं आ सकतीं। पानी उछल-कूदकर टेढ़ा-मेढ़ा जा सकता है, क्योंकि जमीन टेढी-मेढ़ी है। लेकिन सूर्य की किरणें तो आसमान से आती हैं तो बिलकुल सीधी ही आएंगी। तो, जैसे सूर्य की किरणें या जैसे आंख की दृष्टि वैसे ही परमात्मा ने मानव का चित्त भी सीधा ही बनाया है। बचपन में वह सीधा ही जाता है, इसीलिए ज्ञान भी पाता है। यदि वह पग-पग पर शंका करता जाता, तो ज्ञान ही नहीं पाता। ये सारे जेलर वगैरह तीस-तीस, चालीस-चालीस साल काम करते रहते हैं, लेकिन उनका ज्ञान जरा भी नहीं बढ़ता। उनका दायरा शंका का है। उस दायरे को छोड़ जब वे सोचें, तब न ज्ञान बढ़े?

गांधीजी के बारे में हम सोचते हैं तो दिखता है कि उन्होंने अनेक प्रयत्न किए। धीरे-धीरे उनकी ताकत बढ़ती गई। उनमें कोई जन्मसिद्ध, अलौकिक चमत्कार नहीं देखा जाता, जैसे कपिल महामुनि में देखा गया। वे बचपन से ही एकदम ज्ञान बोलने लगे। भगवान कहते हैंः सिद्धानां कपिलो मुनिः– सिद्धों में मैं कपिल हूं। सिद्ध यानी जन्मसिद्ध। कपिल मुनि को बचपन से ही ज्ञान था।

माता उनको दूध पिलाने लगी। दूध की जरूरत तो बच्चों को होती ही है। कपिल महामुनि स्तनन्ध्य, बालक तो थे ही। लेकिन मां के पास गए तो उन्होंने उसका दूध न पीकर उसे तत्त्वज्ञान का पाठ ही पढ़ाना शुरू कर दिया। ऐसी एक अलौकिक स्वभावज सिद्धि थी उनमें। या शंकराचार्य को ले लें। लगभग आठ साल की उम्र में वेदाभ्यास पूरा करके वे घर से निकल पड़े।

मनुष्यों में भिन्न-भिन्न गुण हुआ करते हैं। कोई केवल करुणा-परायण होता है, कोई सत्य-प्रधान तो कोई पराक्रम-प्रधान। महात्माजी थे सत्य-प्रधान। उसी का आधार लेकर वे धीरे-धीरे सेवा करते आगे बढ़ते गए। यहां तक कि किसी सभा में बोलना उनके लिए मुश्किल हो जाता था। बोलने के मौके आते तो कांपते थे। कहते: 'क्या बोलना है, क्या कहा जाए? फिर धीरे-धीरे बोलते।

पर भगवान की कृपा से महात्मा गांधी ऐसी श्रेणी में नहीं थे। यदि होते तो हमारे काम न आते। फिर तो हम उनके सामने दोनों हाथ जोड़ते और कहते: 'आप अपने स्थान में हैं और हम अपने स्थान में। आपका अनुकरण हम नहीं कर सकते। आप महान हैं, सूर्यनारायण हैं, लेकिन हमें तो पृथ्वी पर ही चलना है।' गांधीजी जन्म से एक सामान्य मनुष्य थे। इसीलिए वे मेहनत कर विशाल बने। उनका सारा पराक्रम इसी जन्म का है। पूर्व-जन्म की सिद्धि लेकर आते तो वे हमारे लिए आदरणीय तो होते, पर अनुकरणीय नहीं। फिर भी उनमें कोई सिद्धि थी तो वह थी सत्य पर निष्ठा।

इस समय मुझे याद आ रहे हैं मुहम्मद पैगंबर। पैगंबर भी एक सामान्य मनुष्य थे। मामूली व्यापार करते थे, जैसे दुनिया भर में लोग करते हैं। फिर भी उनमें एक बात थी कि उनका वचन कभी भंग न होता था, शब्द कभी टूटता न था। एक बार उन्होंने किसी को कोई वचन दिया और वह टूट गया– उसका पालन नहीं किया गया। तो, किसी ने उनसे पूछो: 'आप तो अल-अमीन हैं और आपका वचन कभी टूटा नहीं। यह कैसा मौका आया कि आपका वचन टूट गया? वे बोले: 'याद करता हूं।' याद कर उन्होंने कहो: मैंने वह वचन दिया था, उसमें इंशा-अल्लाह नहीं कहा था। 'इंशाअल्लाह' का अर्थ होता है 'अगर अल्लाह ने चाहा! मुहम्मद साहब के कहने का मतलब यह था कि मैंने जो वचन दिया, उसमें मेरा अहंकार था। परमात्मा का स्मरण मैंने नहीं किया था। इसीलिए वह पूरा न हो सका। उन्होंने कहा 'भाईयो, मैं 'अल-अमीन' नहीं, वह तो परमात्मा है।

परमात्मा का जितना स्पर्श मुझे होता है, उतना ही गुण मुझमें आता है। वास्तव में वे सारे गुण परमात्मा के हैं।' लेकिन अब तो मुसलमानों में रिवाज ही पड़ गया कि 'इंशाअल्लाह' कह देंगे और छूट जाएंगे। इंशाअल्लाह कहकर अपने वचन पर कायम रहने की बात अब नहीं रही। वचन से छूट जाने का मौका देना हो तो बोल दिया जाए 'इंशाअल्लाह'। इस तरह आज हम अल्लाह की आड़ में छूट जाते हैं।

यह कहानी मैंने आपको इसलिए सुनायी कि मुहम्मद पैगंबर में अगर कोई मुख्य गुण था तो वह उनकी सत्य-निष्ठा ही था। मनुष्यों में भिन्न-भिन्न गुण हुआ करते हैं। कोई केवल करुणा-परायण होता है, कोई सत्य-प्रधान तो कोई पराक्रम-प्रधान। महात्माजी थे सत्य-प्रधान। उसी का आधार लेकर वे धीरे-धीरे सेवा करते आगे बढ़ते गए। यहां तक कि किसी सभा में बोलना उनके लिए मुश्किल हो जाता था। बोलने के मौके आते तो कांपते थे। कहतेः 'क्या बोलना है, क्या कहा जाए? फिर धीरे-धीरे बोलते।

यदि हमने उनको अवतार आदि बना लिया तो मामला खतम हो जाएगा। मानव रूप में परमात्मा आ गए, ऐसा मानकर उपासना-भक्ति करना मनुष्य के लिए लाभदायी होता है। इसलिए मानवों को अवतार की आवश्यकता होती है, यह सच है। फिर भी राम-अवतार है, कृष्ण-अवतार है तो बस हो गया! अब इससे अधिक अवतारों की आवश्यकता नहीं। गांधीजी को अवतार बना दिया तो उनका हमारे लिए कुछ भी उपयोग नहीं होगा, सिवा इसके कि हम उनका नाम वगैरह लेते रहें।

जानकीदेवी को आप जानते ही होंगे– जमनालाल बजाज की पत्नी! मराठी, गुजराती, हिन्दी, मारवाड़ी, उर्दू सब बोल लेती हैं। उनको किसी भाषा में बोलने में हिचक ही नहीं होती। फिर, व्याकरण का डर तो बिलकुल ही नहीं रखा है उन्होंने! जिनके पीछे व्याकरण का डर होता है, वे तो बेचारे डरते हैं। उनके व्याख्यान में ग्रामीणों को बड़ा मजा आता है। व्याकरण का सवाल ही नहीं। छोटे-छोटे वाक्य और वक्तृत्वसंपन्न बोलती हैं। इसके विपरीत जमनालालजी रुक-रुक बोलते थे। वे वक्ता नहीं थे मैंने एक बार उनसे कहाः आप तो कैसा सुंदर व्याख्यान देती हैं। लेकिन जमनालालजी दुनियाभर का काम करते हैं, पर बोलना उनके लिए मुश्किल होता है। बोलींः इसका कारण है। मैंने पूछाः क्या? बोलींः उन्हें हमेशा फिक्र रहती है कि जैसा बोलता हूं, वैसा करना पड़ेगा। यह सोच-सोच कर वे बोलते हैं। लेकिन हमें तो

सोचने से मतलब ही नहीं। तब रुकावट किसलिए? इसीलिए हमें वक्तृत्व सध पाता है।

गांधीजी का भी ऐसा ही था। उन्हें जनता के बीच बोलना मुश्किल होता था। धीरे-धीरे अभ्यास करते-करते वह सध गया। इसका यही कारण था कि मुख से ऐसा शब्द न निकले जो गलत हो, सोचा हुआ न हो, सत्य की कसौटी पर कम उतरे– इसकी चिंता उन्हें रहती थी। इसीलिए वे पचासों संकटों से बचे, यह उन्होंने स्वयं लिख रखा है।

मेरी उस पहाड़ जैसी यह गलती है। अगर अपना भी दोष मालूम हो जाए तो कौन इससे ज्यादा लोगों के सामने उसे एकदम रख सकता है, छिपाता नहीं? अजीब बात है। इतना होते हुए भी राजनीति में उनको सफलता मिलती गई। इसका एकमात्र कारण यही है कि उनके सामने वालों की जो राजनीति थी, वह झूठ पर आधारित थी, जबकि उनकी अपनी राजनीति का आधार था सत्य। सत्य बोलना और जो शब्द बोलना, ठीक बोलना। स्पष्ट है कि सत्य के सामने झूठ टिक नहीं सकता।

आज उनके स्मरण में हम इकट्ठा हुए हैं, तो हमें समझना चाहिए कि उनका चरित्र अनुकरणीय है। यदि हमने उनको अवतार आदि बना लिया तो मामला खतम हो जाएगा। मानव रूप में परमात्मा आ गए, ऐसा मानकर उपासना-भक्ति करना मनुष्य के लिए लाभदायी होता है। इसलिए मानवों को अवतार की आवश्यकता होती है, यह सच है। फिर भी राम-अवतार है, कृष्ण-अवतार है तो बस हो गया! अब इससे अधिक अवतारों की आवश्यकता नहीं। गांधीजी को अवतार बना दिया तो उनका हमारे लिए कुछ भी उपयोग नहीं होगा, सिवा इसके कि हम उनका नाम वगैरह लेते रहें। नाम लेने के लिए आधार चाहिए, तो राम-कृष्ण हैं ही। इनसे अधिक तीसरे की हमें कोई आवश्यकता नहीं।

इसलिए गांधी का जो मानवरूप है, उसे हम कायम रखें। उनका कोई संप्रदाय न बनाएं। एक शब्द उन्होंने मुंह से निकाला तो वही प्रमाण, ऐसा न मानें। उस पर सोचें। वे भी हमेशा सोचते और बदलते थे। कहते भी थे कि मेरे किसी भी पुराने वाक्य के साथ नये वाक्य का विरोध आता हो तो नया वाक्य ही प्रमाण समझो। पुराना गलत मानो, क्योंकि मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया हूं। धीरे-धीरे सत्य की खोज होती गई और धीरे-धीरे सत्य का भान हुआ। पुराना वाक्य पुरानी अक्ल का है। इसलिए यह मत समझो कि मोहनदास करमचंद गांधी

नाम का जो लड़का था, जो बैरिस्टर होने के लिए लंदन गया, उसने जो कुछ कहा और 1948 में महात्मा गांधी के नाम से जाहिर मनुष्य जो बोला, दोनों एक ही हैं। ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं।

सत्य की खोज में गांधीजी को जैसे-जैसे अपनी गलतियां महसूस हुईं, सार्वजनिक कार्य में उनसे जो कोई गलती हुई तो उसे प्रामाणिकता के साथ उन्होंने जाहिर कर दिया: 'भाई हिमालयन ब्लंडर।' हिमालय से बढ़कर तो कोई ऊंचा पहाड़ नहीं है। मेरी उस पहाड़ जैसी यह गलती है।' अगर अपना भी दोष मालूम हो जाए तो कौन इससे ज्यादा लोगों के सामने उसे एकदम रख सकता है, छिपाता नहीं? अजीब बात है। इतना होते हुए भी राजनीति में उनको सफलता मिलती गई। इसका एकमात्र कारण यही है कि उनके सामने वालों की जो राजनीति थी, वह झूठ पर आधारित थी, जबकि उनकी अपनी राजनीति का आधार था सत्य। सत्य बोलना और जो शब्द बोलना, ठीक बोलना। स्पष्ट है कि सत्य के सामने झूठ टिक नहीं सकता।

गांधीजी के समय में राजनीति में जो लोग थे, गांधीजी उनसे अधिक कुशल थे, ऐसी बात नहीं। इनके पास केवल सत्य होता था और सत्य ही कुशल होता है। मुख्य बात यह कि सत्य के साथ जो चिपके रहता है, उससे बढ़कर दुनिया में आदमी नहीं। कुशलता की ऐंठ में जो असत्य का उपयोग कर लेते हैं, वे कुशल सिद्ध नहीं होते। कुशलता इसी में है कि हम सत्य पर चलें। तभी सब प्रकार से सुरक्षित रहकर सब खतरों से बच सकते हैं। सत्य का बड़ा परिणाम होता है।

सत्यवादी मनुष्य के शब्द पर दुनिया का विश्वास बैठता है। उससे लोगों को चेतना मिलती है। गांधीजी के आने से पहले हमारे देश में बड़े अच्छे-अच्छे नेता थे। लेकिन उनके बारे में यह विश्वास नहीं था कि जैसा वे बोलते हैं, वैसा ही उनके मन में है। बल्कि उल्टा था कि कानून से बचने के लिए बोलते तो हैं कुछ, लेकिन उनके मन में बात कोई दूसरी ही होती है। सरकारी कानून के शिकंजे में पकड़े न जाएं, इसलिए बच-बचकर बोलते हैं। पुराने जमाने में माना जाता था कि नेता को वकील होना चाहिए। गांधीजी के आने तक लोगों का ऐसा ही ख्याल था। पर गांधीजी जब आए तो वे जैसा मन में होता, वैसा ही बोलने लगे।

गांधीजी के नाम पर पंजाब में अत्याचार शुरू हो गए। उधर अहमदाबाद में भी लोगों ने मारपीट शुरू कर दी। बात पुरानी है। सन् 1920-21 की होगी। उन दिनों हम दो-तीन साथी अहमदाबाद शहर और गांव में गए। वहां लोगों को समझाने लगे कि भाई, गांधीजी की मंशा यह नहीं कि आग लगाई जाए, गांधीजी के नाम से हिंसा की जाए। उन्होंने तो ऐसा कहां कहा है? बोले: आप क्या

समझते हैं गांधीजी को? दरअसल हम तो उस समय 25-30 साल की उम्र के जवान थे। हम उनसे ज्यादा क्या जानते थे? वे बुजुर्ग आग लगाने के लिए निकले थे। उन्होंने आगे कहा: अरे धर्मराज बोले, भैम जाणें। यानी युधिष्ठिर तो अपना सीधा बोलेगा, लेकिन उसके सीधे से दिखने वाले वचनों का असली अर्थ तो भैम जानता है। गुजराती में भैम यानी भीम।

उनका यह जो सत्यनिष्ठा गुण है वह कठिन नहीं। सरलता से व्यवहार करते हैं तो कुछ षडयंत्र रचना नहीं पड़ता। यदि हम कुछ असत्य की बात करेंगे तो उसके बचाव के लिए षडयंत्र रचना पड़ेगा। लेकिन सत्य के लिए षडयंत्र की जरूरत ही नहीं होती।

उसके बाद गांधीजी ने प्रायश्चित के तौर पर उपवास शुरू कर दिया। फिर लोग एकदम गंभीर हो गए और कहने लगे कि हां, यह ऐसा मनुष्य है कि जैसा बोलता है, वैसा ही इसके मन में होता है। गांधीजी ने एक नया रिवाज शुरू कर दिया कि जैसा बोला जाए, वैसा ही मन में हो और जैसा मन में हो, वैसा ही बोला जाए। परिणाम यह हुआ कि गांधीजी की धाक जम गई। उनका शब्द बलवान सिद्ध हुआ और शब्द के पराक्रम से ही उनका सारा पराक्रम हुआ।

लेकिन कहने में दुख होता है कि उनमें जो सत्यनिष्ठा थी, उनके साथी हम लोगों में वह नहीं रही। इसलिए आखिर-आखिर में उनके शब्द के विषय में लोगों के मन में, विरोधी पक्षों के मन में, सरकार के मन में शंका पैदा होने लगी और शब्द की शक्ति टूटी। आखिरी-आखिरी में स्वराज्य-प्राप्ति के समय जो कुछ बना, वह उसी का परिणाम था जो हमने देखा। गांधीजी को वह समय बहुत दुख में बिताना पड़ा।

मैं कहना यह चाहता था कि उनका यह जो सत्यनिष्ठा गुण है वह कठिन नहीं। सरलता से व्यवहार करते हैं तो कुछ षडयंत्र रचना नहीं पड़ता। यदि हम कुछ असत्य की बात करेंगे तो उसके बचाव के लिए षडयंत्र रचना पड़ेगा। लेकिन सत्य के लिए षडयंत्र की जरूरत ही नहीं होती।

लक्ष्मीनारायणपुरी, बैनी, दरभंगा (बिहार)
में सन् 1966 को गांधी जयंति पर दिया गया भाषण।

*

बस इतना पर्याप्त है

पावन दलाई लामा

करुणा, विवेक और धीरज बड़े सुंदर गुण हैं। पर इनके बारे में केवल सोचते रहने से काम नहीं चलता। इन गुणों का विकास सोचने से नहीं, इन्हें काम में लगाने से होता है। जीवन में कष्ट कब नहीं आते, किसके नहीं आते। तो तब इन गुणों को कसौटी पर कसना पड़ता है। इन्हें जीवन में उतारना पड़ता है। तब इन गुणों को हम अपना सकें तो ये हमें तारते हैं।

कष्ट कौन देता है? इन गुणों को अपनाने का यह जो अवसर है, वह हमें भला कौन उपलब्ध करवाता है? क्या हमारे मित्र? जी नहीं ऐसे अवसर तो हमें हमारे शत्रु देते हैं। इसलिए यदि हम सचमुच कुछ सीखना चाहते हैं तो अपने इन शत्रुओं को अपना शिक्षक मानो, अपना गुरु मानो। सबसे अच्छा, सबसे बड़ा गुरु मानो।

सत्य, प्रेम और करुणा में डूबे एक व्यक्ति के लिए धीरज एक ऐसा गुण है जो इन्हें थामता है। धीरज नहीं तो क्या तो सत्य, क्या प्रेम और क्या तो करुणा। धीरज ही इन सबको शक्ति देता है। और ऐसे में शत्रु के बिना हमारा काम नहीं चलेगा। इसलिए जब वे आ जाएं तो हमें उनके प्रति आभार प्रगट करना चाहिए। हमारे शत्रु की यह शक्ति ही हमें एक शांत, प्रशांत, स्थिर चित्त की ओर ले जाने में सहायक बन सकती है। हमने अनुभव से देखा है कि अपने निजी जीवन में भी और सार्वजनिक जीवन में भी हमारे शत्रु हमारे अपने मित्र बन जाते हैं।

वैसे भी शत्रु ये नहीं हैं। असली शत्रु तो घृणा और क्रोध हैं। ये वो ताकतें हैं जिनसे हमें लड़ना है, इन्हें हराना है, इन पर विजय पानी है। ये हैं हमारे असली

पक्के शत्रु। बाकी तो बस नकली ही समझो, फर्जी ही मानो उनको। ये तो हमारे जीवन में, जीवन के हर मोड़ पर आते-जाते रहेंगे। हर कहीं टकरा जाएंगे। यह भी सच है, स्वाभाविक है कि हम सब अच्छे मित्रों की तलाश में रहते हैं, पर यह भी सच है कि प्रायः मित्र तो मिलते नहीं, हां शत्रु जरूर आ पहुंचते हैं। मैं अक्सर मजाक में कहता हूं कि यदि आप स्वार्थी बनना चाहते हो तो आपको अपने अलावा दूसरों का ध्यान रखना शुरू करना पड़ेगा। परोपकारी बने बिना आपका स्वार्थ पूरा होने से रहा। अपने पर ध्यान देना है तो बस दूसरों पर ध्यान देने लगो। अपनी चिंता करनी है तो दूसरों की चिंता करने लगो। उनकी सेवा करो, उनकी मदद में खड़े रहो। मित्र बनाते चलो। तब यदि कभी आपको कुछ जरूरत होगी, कोई संकट आप पर आ ही गया तो समझिए आपके चारों ओर मित्र खड़े होंगे, हर तरह की दिक्कत को हल कर देने के लिए। लेकिन यदि आपने दूसरों का ध्यान नहीं रखा तो नुकसान में आप ही होंगे। निस्वार्थ प्यार ही सच्चे मित्र जुटाता है।

इन गुणों को अपनाने का यह जो अवसर है, वह हमें भला कौन उपलब्ध करवाता है? क्या हमारे मित्र? जी नहीं, ऐसे अवसर तो हमें हमारे शत्रु देते हैं। इसलिए यदि हम सचमुच कुछ सीखना चाहते हैं तो अपने इन शत्रुओं को अपना शिक्षक मानो, अपना गुरु मानो। सबसे अच्छा, सबसे बड़ा गुरु मानो।

आज आपके पास किसी तरह की सत्ता है, थोड़ा बहुत या बहुत ज्यादा रुपया पैसा है तो आपको लगेगा कि आपके बहुत सारे दोस्त हैं इस दुनिया में। लेकिन आपकी यह सत्ता, रुपया पैसा किसी कारण से गया नहीं कि आप पाएंगे सारे दोस्त भी निकल गए, न जाने कहां। खोजते रहिए उन्हें फिर, वे नहीं मिलने वाले आपको। जब तक सब कुछ ठीक-ठाक है, हमारे आसपास एक भरा-पूरा संसार घूमता रहता है। जरा-सी भी गड़बड़ हुई नहीं कि वह संसार ठप्प हो जाता है। तब हम पछताते हैं कि हमसे कितनी बड़ी गलती हो गई है।

मुझे मुस्कुराते चेहरे पसंद हैं। मुस्कुराहट एक तरह की नहीं होती। कई प्रकार हैं इसके। कुछ लोग व्यंग्य में हंसते हैं। कुछ कूटनीति में हंसते हैं तो कुछ के ओठों पर नकली हंसी भी मिल जाएगी। कभी हंसी संदेह भी पैदा कर देती है– अरे ये क्यों हंस रहा है? लेकिन इन सबके बीच एक सहज पवित्र मुस्कान

आपको तरोताजा कर जाती है। हमें कुछ ऐसे काम, ऐसे निस्वार्थ काम करने पड़ेंगे ताकि ऐसी मुस्कान लोगों के चेहरों पर आती रहे।

सुख व्यक्ति का होता है और ऐसे कई सुखी, संतुष्ट व्यक्ति ही सुखी समाज बना सकते हैं। हम सबकी आत्मा एक ही है। ऊपर के आरोपित अंतर वास्तविक नहीं हैं जिससे भी मिलो, उसका दर्जा कुछ भी हो, छोटा हो, बड़ा हो, गरीब हो, अमीर हो उसे अपना मानो। ऊपर का अंतर भूल जाओ। उसके अंतर में, उसके भीतर तो झांको।

शत्रु के बिना हमारा काम नहीं चलेगा। इसलिए जब वे आ जाएं तो हमें उनके प्रति आभार प्रगट करना चाहिए। हमारे शत्रु की यह शक्ति ही हमें एक शांत, प्रशांत, स्थिर चित्त की ओर ले जाने में सहायक बन सकती है। हमने अनुभव से देखा हैकि अपने निजी जीवन में भी और सार्वजनिक जीवन में भी हमारे शत्रु हमारे अपने मित्र बन जाते हैं।

आखिरकार यह पूरा संसार एक ही है। यह छोटा-सा ग्रह पृथ्वी ही हम सबका एकमात्र घर है। यदि इसे बचाना हो तो हम में से हरेक को अपनी कैद से बाहर निकल कर अपने आसपास में घुल मिल जाना है। इस भावना से काम करें तो क्षुद्र-स्वार्थ वाली भावना गायब होगी। उसी के कारण तो लोग एक दूसरे को धोखा देते हैं, एक दूसरे को सताते हैं। आप इससे मुक्त हुए बिना निर्भय नहीं हो सकते।

समाज के हर स्तर– परिवार, समूह, समाज, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर यदि सुख की कोई चाभी है तो वह है करुणा। हमें किसी तरह का धार्मिक नहीं बनना है। हमें किसी एक खास तरह के विचार को नहीं मानना है। एक अच्छे व्यक्ति बनो– बस इतना पर्याप्त है।

दलाई लामा डॉट कॉम से
साभार। अंग्रेजी से हिन्दी अ.मि. द्वारा

*

आज का जमानाः हमारा समय

गोपालकृष्ण गांधी

पहले तो मैं यह बता देना चाहूंगा कि आपमें से कोई यह न समझे कि यह कोई गांधीवादी आपको संबोधित कर रहा है। मैं गांधीवादी नहीं हूं। मैं आज के कंज्यूमर जमाने का एक बहुत चमकता हुआ प्रतीक हूं। मुझमें आप कोई त्याग मूर्ति न देखें। हां मैं भोगी नहीं हूं, लेकिन योगी भी नहीं। जब मैंने पूर्व वक्ताओं के नाम सुने, तो मुझे अपनी असमर्थता पर और अधिक ताज्जुब हुआ। कितनी बड़ी-बड़ी हस्तियां यहां आई हैं। दलाई लामा और ताराअली बेग को मैं स्वयं यहां सुन चुका हूं। वक्ताओं के सारे नाम जब मैंने सुने तो मुझे लगा कि यहां मेरा आप सबके सामने बोलना एक धृष्टता होगी। पर जब मैंने देखा कि मेरा भतीजा तुषार भी यहां बोल चुका है तो मुझे थोड़ी सांत्वना मिली। भतीजे के बाद चाचा बोले तो शायद कुछ बैलेंस ठीक हो रहा है।

आज का जमाना। 'ए टेल ऑफ टू सिटीज़' नामक अंग्रेजी उपन्यास है। चार्ल्स डिकिंस उसमें लिखते हैंः वह सबसे अच्छा वक्त था, वह सबसे बुरा वक्त था। वह ज्ञान का युग था, वह मूर्खता भरा युग था। वह प्रकाश का दौर था, वह अंधेरे का दौर था। वह तो आशा भरा वसंत था, वह निराशा भरी शीत थी।

आज अगर हम विचार करें तो यही सब हमारे इस जमाने के बारे में भी कहा जा सकता है।

पर आप पूछ सकते हैं कि आप हमारे जमाने को आशा का वसंत और प्रकाश का युग भला कैसे कह सकते हैं? सब जगह तो अंधेरा-अंधेरा ही लग रहा है। पर अंधकार और निराशा पर आने से पहले मैं इस संवाद में आप सबके साथ देखना चाहता हूं कि हमारे इस जमाने को आशा का वसंत और प्रकाश का युग कैसे कहा जा सकता है। एक तो यह है कि अभी कुछ दिन पहले तक हमारे बीच में नेल्सन मंडेला थे। अभी कुछ ही पहले तक पीट सीगर हमारे साथ थे। दलाई लामा हमारे बीच विद्यमान हैं। आंग-सां-सूची हमारे साथ हैं। यहां तक कि चौदह

वर्षीय मलाला यूसुफ जई भी हमें प्रेरणा दे रही है। तो यह आशा का वसंत नहीं तो और क्या है?

पीट सीगर जब हमें छोड़कर गए, उनकी आयु 94 वर्ष की थी। उन्होंने हमें 'वी शैल ओवरकम', हम होंगे कामयाब जैसा गान दिया है। यह गीत उन्होंने लिखा नहीं था। यह तो एक आध्यात्मिक मौजूदगी थी। उन्होंने उसको गाने योग्य बनाया। मूल गीत में थाः 'वी विल ओवरकम' इसे उन्होंने 'वी शैल ओवरकम' करके दुनिया को एक बड़ी विरासत दी है। दुनिया की हर जुबान में यह गीत है। बांग्ला में तो दो-दो अनुवाद हैं इसके। 'एक दिन सूरजेर भोर' और 'आमरा कोरबोजोय'। 'आमरा कोरबोजोय' के बाद 'आमरा कोरबोजोय निश्चय' जब आता है तो फिर वह 'वी शैल ओवरकम' से भी एक कदम आगे बढ़ जाता है। यह आशा का वसंत नहीं तो और क्या है? पीट सीगर 2011 में अमेरिका में हुए 'ऑक्यूपाई वॉल स्ट्रीट' आंदोलन में भी सक्रिय रूप से शामिल थे।

वह सबसे अच्छा वक्त था, वह सबसे बुरा वक्त था। वह ज्ञान का युग था, वह मूर्खता भरा युग था। वह प्रकाश का दौर था, वह अंधेरे का दौर था। वह तो आशा भरा वसंत था, वह निराशा भरी शीत थी।

मलाला के बारे में कुछ कहना बहुत जरूरी नहीं है। हम सब उस बच्ची के उदाहरण से परिचित हैं। तो आज हमारे दिमाग में यह सवाल उठ सकता है कि जो भी मैंने उदाहरण दिए हैं, उसमें से दलाई लामा जरूर भारत में हैं। लेकिन क्या मंडेला, दलाई लामा, आंग-सां-सूची, मलाला, पीट सीगर जैसे कद का कोई व्यक्तित्व हमारे देश में है? यह सोचकर हम एकदम निराश न हों। पहले यह जरूर सोचें कि देश के जनसमूह की पचास प्रतिशत आबादी पच्चीस वर्ष से छोटी है। उमर के इस हिसाब से देखें तो यह दुनिया का सबसे नौजवान देश है। और सभ्यता और विरासत के हिसाब से देखें तो दुनिया का सबसे बुजुर्ग देश है। तो फिर इसमें आशा का वसंत और प्रकाश का युग नहीं तो और क्या हो सकता है? पर इस युवा आबादी को अगर प्रेरित करके आगे को ले जाना है तो वो कौन है?

दुनिया में हमारे जैसे देश बहुत कम हैं जहां राजनैतिक दल और सामाजिक आंदोलन कदम से कदम मिलाकर चले हैं और कभी-कभी तो एक दूजे में मिलकर एक भी हो गए हैं।

सन् 1885 में कांग्रेस बनी। यह एक राजनीतिक पार्टी थी। और भी राजनीतिक पार्टियां बन सकती थीं और बनीं भी। लेकिन आज जिस आदमी की

स्मृति में हम एकत्रित हुए हैं, उसने यहां एक सामाजिक आंदोलन शुरू किया और उस आंदोलन को इस पार्टी के साथ जोड़ा। इससे एक नई मिसाल हमारे सामने आई थीः सामाजिक आंदोलन का सड़क पर ही होना जरूरी नहीं है।

ऐसे आंदोलन को पार्टियों के जरिए भी कार्यान्वित किया जा सकता है। और अगर पार्टी के किसी अंश से तकलीफ हो रही है तो फिर सड़क पर भी, सामाजिक आंदोलन के जरिए। संभव हो तो पार्टी अपना अस्तित्व अलग रखे और सामाजिक आंदोलन अपना अलग अस्तित्व रखे। पर कई जगह वो दोनों एक साथ मिल भी सकते हैं। अगर उस आदमी ने यह मिसाल नहीं दी होती तो कांग्रेस जिस तरह एक बड़ी शक्तिशाली पार्टी रही है, तो संभव था स्वतंत्रता आंदोलन में भी बहुत बड़ा योगदान करती, लेकिन जिस तिलस्म को वो छू गई वो शायद उस तरह न छूती, अगर नौजवान और वृद्ध सब उसके साथ न जुड़ते। मोतीलाल नेहरू जैसे वयोवृद्ध भी उसमें आए और तरुण तपस्वी जवाहरलाल भी। तो यह उस आदमी का एक जादू था। आज ऐसा कुछ है क्या? इस सवाल के कई जवाब हो सकते हैं।

हममें से हरेक के दिमाग में इस सवाल के अलग-अलग जवाब हो सकते हैं। लेकिन मैं नहीं मानता कि किसी के भी मन में इस सवाल का एक ऐसा जवाब है कि हां मेरे पास देश की सारी समस्याओं का उत्तर है। गांधी ने भी कभी नहीं कहा कि उनके पास देश की सारी समस्याओं का उत्तर है। हां, गांधी के सबसे बड़े अनुयायी जयप्रकाशजी ने जरूर 'संपूर्ण क्रांति' की बात की थी। पर उन्होंने उसे भावी इतिहास का नाम दिया थाः 'भावी इतिहास हमारा है।' उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं संपूर्ण हूं, उन्होंने कहा कि वह लक्ष्य है। आज एक सामूहिक नागरिक की बात है। जो उससे जुड़े, उसे पूर्ण कहा जा सकता है। पर वह हमें कहीं नहीं मिलता है। न आज के किसी मौजूदा आंदोलन में, न आज की मौजूदा पार्टियों में। तो आज पच्चीस वर्ष से कम का जो हमारा युवा समूह है, वो एक शक्ति है जो एक सार्थक दिशा ढूंढ़ रहा है। वो एक ऊर्जा है जो एक गंतव्य ढूंढ़ रही है। वो एक प्रेरणा है, जो अपना आदर्श ढूंढ़ रही है। कैसे वह माने जिसको लेकर हम कह सकते हैं कि हां हमें आज पर भरोसा है। अगर ऐसा भरोसा है तो वही है आशा का वसंत। यदि ऐसी परिस्थिति नहीं दिखती तो फिर यही है निराशा की शीत।

आज के हर राजनीतिक दल में हमें ऐसे बहुत से लोग मिल जाएंगे, जिन्हें हम मानते हैं, जिन्हें हम अपना आदर दे सकते हैं। साथ ही हर राजनीतिक दल में हम ऐसे लोगों को भी पाएंगे, जिनके साथ हम किसी लिफ्ट में भी अटकना नहीं चाहेंगे, जिनके साथ हम शायद एक कप चाय भी

नहीं पीना चाहेंगे। यह है आज की हकीकत। इस हकीकत को लेकर हम अंधेरे में अपनी राह ढूंढ़ रहे हैं।

तो आज का जमाना हमें क्या कह रहा है। क्या अपूर्णता को कबूल करना पर्याप्त है। शायद एक ऐसे व्याख्यान या लेख के लिए वह पर्याप्त हो सकता है। लेकिन उससे हमें कोई खुराक नहीं मिलने वाली; न बौद्धिक, न किसी अन्य प्रकार की ही। मेरा यह आज प्रस्ताव है कि जो अपने आपको गांधी से प्रेरित समझते हैं, और कभी-कभी अपने आपको गांधीवादी कहने की भूल भी कर लेते हैं, उन सबको आज अपने आप से यह प्रश्न करना पड़ेगा कि क्या हम अपने आप पर वह काबू ला चुके हैं जो कि हम औरों में देखना चाहते हैं? तो हमें उसका जवाब मिलेगा कि नहीं, शायद नहीं। मैं अपने बारे में जरूर कह सकता हूं, बिलकुल नहीं। आज हर आदमी राजनीतिक आदमी है। वह औरों पर आरोप लगाने में बहुत दक्ष हो गया है। लेकिन स्वराज का जो मतलब होता है, अपने स्वयं पर राज, उससे वह बहुत दूर है। और अगर यही चलता रहे तो कहा जा सकता है कि हमारा देश कुछ ऐसे लोगों की जगह बन गया है, जहां दूसरों के दोष तो खूब देखे जाते हैं, पर कोई हल नहीं सुझाया जाता।

इस पीड़ा को दूर करने के लिए कई लोग ठोस काम कर रहे हैं। वे अपने आपको गांधीवादी नहीं बतलाते हैं। पर वे काम कर रहे हैं। उनकी संख्या कम है। उनके नामों से हम लोग परिचित भी नहीं हैं। जो गांधी का काम आज देश में हो रहा है, वो खासकर उन्हीं लोगों से हो रहा है जो कि अपने काम को गांधी का नाम नहीं दे रहे हैं। वे सिर्फ अपने काम में रत हैं।

जब भी कोई किसी पर आरोप लगाता है तो उस पर भी एक आरोप लग जाता है। आज कोई यह नहीं कहता कि भाई मुझसे गलती हुई है। मैं अपनी गलती कुबूल कर रहा हूं। आगे मैं अपने आपको सुधारने की कोशिश करूंगा। चौरी-चौरा से हम सब वाकिफ हैं। सारे कांग्रेस नेताओं को, कार्यकर्ताओं को गांधी ने ऐसा सदमा दिया चौरी-चौरा की घटना के बाद आंदोलन को रोक देने से कि वे बहुत समय तक उससे उबर ही नहीं पाए थे।

आज हर राजनैतिक हैसियत, राजनैतिक दल और साथ ही वे भी जो अपने को सामाजिक आंदोलन मानते हैं– ये सब 'हिमालय जैसी भूलें' कर रहे हैं, पर इनमें से एक भी अपनी गलती को मानने तैयार नहीं।

गांधी में चार चीजें ऐसी थीं, जो उन्हें एकदम अनूठा बनाती थीं: उन्हें मृत्यु का भय नहीं था। पराजय का भय नहीं था। कहीं कोई उन्हें मूर्ख न मान ले–

इसका उन्हें डर नहीं था और चौथी बात, सबसे महत्पूर्ण यह कि उन्हें अपनी गलती स्वीकार करने से डर नहीं था।

आज इन चारों बातों को अगर हम मापदंड के तौर पर लें और पूछें कि कौन है जो इस मापदंड पर खरा उतरता है तो बहुत कम लोग मिलेंगे। इसी में हमारी सबसे बड़ी कमजोरी है। एक पांचवां गुण भी गांधी में था जो कि आज हमारे बीच से बिलकुल गायब है। वह है खुद को और समाज को कड़वे सच सुनाने का। इसे हम कुछ भी नाम दें। चाहे शक्ति कहें, ताकत कहें, आदत कहें, तकनीक कहें या कुछ और।

हर राजनीतिक दल किसी न किसी नेता के नाम का उपयोग कर रहा है। गांधी का नाम बरसों से उपयोग होता आ रहा है। बाबा साहेब का नाम राजनीतिक दलों में देश भर में उपयोग हो रहा है। इसी तरह नेताजी का नाम भी लिया जाता है। और आज अचानक इतने सालों बाद सरदार पटेल का नाम भी राजनीतिक कार्यक्रमों के लिए उपयोग में आने लगा है। किसी ने बहुत सही कहा है कि जो महान विभूतियां आज हमारे बीच नहीं हैं, उनके नामों को लेने का अर्थ तो कुछ ऐसा ही है, मानो हम उनकी कब्र को खोद कर उनका शरीर बाहर ला पटकें।

हमें जब भी किसी राजनैतिक दल, राज्य सरकार या केन्द्र सरकार की किसी गलती को खोज निकालने में मजा आए तो हमें खुद से पूछ लेना चाहिए कि क्या इस गलती को करने में हमारी अपनी भी कुछ भूमिका रही थी? हम ऐसा करने नहीं वाले। और राजनीति में जो लोग हैं, वे भी हससे ऐसा करने को कहने नहीं वाले। वे तो हमें अपना 'वोट बैंक' जो मानते हैं। कोई यह कहने को तैयार नहीं है कि मैं हारूं तो हारूं, मैं अगर आपका स्नेह लुटा दूं तो लुटा दूं लेकिन मैं सच जरूर कहना चाहता हूं। एक आम आदमी, एक आम नागरिक की तरह भी हमने अपने देश को नीचा दिखाया है– यह आज कोई कहने को तैयार नहीं है। इस पीड़ा को दूर करने के लिए कई लोग ठोस काम कर रहे हैं। वे अपने आपको गांधीवादी नहीं बतलाते हैं। पर वे काम कर रहे हैं। उनकी संख्या कम है। उनके नामों से हम लोग परिचित भी नहीं हैं। जो गांधी का काम आज देश में हो रहा है, वो खासकर उन्हीं लोगों से हो रहा है जो कि अपने काम को गांधी का नाम नहीं दे रहे हैं। वे सिर्फ अपने काम में रत हैं।

हर राजनीतिक दल किसी न किसी नेता के नाम का उपयोग कर रहा है। गांधी का नाम बरसों से उपयोग होता आ रहा है। बाबा साहेब का नाम

राजनीतिक दलों में देश भर में उपयोग हो रहा है। इसी तरह नेताजी का नाम भी लिया जाता है। और आज अचानक इतने सालों बाद सरदार पटेल का नाम भी राजनीतिक कार्यक्रमों के लिए उपयोग में आने लगा है। किसी ने बहुत सही कहा है कि जो महान विभूतियां आज हमारे बीच नहीं हैं, उनके नामों को लेने का अर्थ तो कुछ ऐसा ही है, मानो हम उनकी कब्र को खोद कर उनका शरीर बाहर ला पटकें।

यह बिलकुल सही है। कौन कह सकता है कि ये नेता अपने इस नाम के उपयोग से संतुष्ट होंगे। कोई नहीं कह सकता। लेकिन उनके नाम का उपयोग हो रहा है। यह अपने आप में एक तरह का भ्रष्टाचार है। इस काम की शुरुआत गांधीजी के नाम के दुरुपयोग से ही हुई, इसके बारे में कोई संदेह नहीं है। देश भर में यह होता रहा है। अब उसकी प्रतिक्रिया हो रही है। उसकी प्रतिध्वनि आज हम सुन रहे हैं। बाकी अन्य नामों का भी उसी तरह उपयोग हो रहा है, दुरुपयोग हो रहा है। आज के जमाने के जिस अंधकार की बात हमने प्रारंभ में कही थी, यह भी उसी का एक अंश है। हमें खुद की तो कोई ज्योति मिल नहीं रही है। तो पुरानी ज्योतियों को हम सुलगा-सुलगा कर, उसी के प्रकाश से इस अंधकार में अपनी राह ढूंढ़ रहे हैं! दूसरे शब्दों में कहें तो आकाश में बुझे हुए सितारों की रोशनी से अंधकार में अपनी राह ढूंढ़ रहे हैं।

दुनिया की बात जरा भिन्न है। दुनिया में आज महात्मा गांधी का नाम समकालीन नाम है। भारत में यह पुरातनी नाम है। हम उनकी छवि के सामने दीपशिखा को प्रज्ज्वलित करके, पुष्पार्पण करके साल में दो बार आत्मतुष्टि पा लेते हैं, लेकिन दुनिया में जो पर्यावरण के क्षेत्र में आंदोलन चल रहे हैं, वे गांधी के तिलस्म से ऐसे प्रेरित हैं कि हम जानते तक नहीं हैं। सामाजिक आंदोलन और राजनीतिक दल इन दोनों को जोड़कर हमारे देश में जो गांधी ने चमत्कार किया था, वह आज दुनिया भर में पर्यावरण के काम के साथ जुड़ रहा है। उस चमत्कार को भी हम ठीक-ठीक जानते नहीं।

मैंने जो यह कड़वी बात कही, वह आज कोई भी नहीं कह रहा है। पर्यावरण की समझ में हम कहां भटक रहे हैं, हम कहां भूल कर रहे हैं, यह कोई नहीं कह रहा है। इस बात को कोई राजनीतिज्ञ नहीं कहने वाला। वह भला क्यों कहेगा कि हमें पानी और बिजली का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। इनकी बचत करनी चाहिए। वे तो यही कहेंगे कि आप करते रहिए उसका उपयोग, कीमत हम देख लेंगे। इसके लिए हमारे 'कॉरपोरेट सेक्टर' को भी हमें याद कर लेना चाहिए। निःसंदेह आज भारतीय व्यापार ने हमारे लिए जो कुछ भी किया है, हम सब उससे वाकिफ हैं। लेकिन जिस प्रकार हमारे प्राकृतिक संसाधनों को, हमारी

ही यह व्यापारिक बिरादरी खोखला बना रही है, उसके बारे में कोई चेतावनी देने के लिए तैयार नहीं। कोई राजनीतिक दल भी चेतावनी देने को तैयार नहीं। शायद एकाध हो सकते हैं। हम जानते हैं कि हमारे खनिज पदार्थों का किस तरह दुरुपयोग हो रहा है, लेकिन आज यह सवाल पूछने वाला कोई नहीं है कि हमारी कीमती खदानों की क्या हालत है। हमारे बेशकीमती खनिज आज किस हालत में आ गए हैं? हमारे प्राकृतिक साधनों की स्थिति कैसी है भला? इन सब धरोहरों का हम कितना उपयोग आज कर लेंगे, कितना कल के लिए और कितना कुछ परसों आने वाली पीढ़ी के लिए छोड़ जाएंगे।

मैंने कोई पचास बड़े उद्योग घरानों को एक पत्र लिखा कि "बचत करना भी कोई एक चीज होती है। आप मुझे यह बताएं कि बिजली और पानी का जिस तरह आप उपयोग कर रहे हैं, क्या वह सही मात्रा में है? क्या वह आवश्यकता के भीतर है या आवश्यकता से ऊपर? और अगर आवश्यकता से ऊपर कर रहे हैं तो आप कितनी बचत कर सकते हैं? यह जो हमारा प्रदेश है, वह बिजली के उत्पादन में कमजोर प्रदेश है। इसलिए आप सुझाव दें।" जिस पते से मैंने यह पत्र लिखा था, उस पते की अपनी कुछ गरिमा है। लेकिन आपको ताज्जुब होगा कि मुझे एक भी उद्योग घराने से इस पत्र की पावती तक नहीं मिली!

कोलकाता में मैंने कोई पचास बड़े उद्योग घरानों को एक पत्र लिखा कि "बचत करना भी कोई एक चीज होती है। आप मुझे यह बताएं कि बिजली और पानी का जिस तरह आप उपयोग कर रहे हैं, क्या वह सही मात्रा में है? क्या वह आवश्यकता के भीतर है या आवश्यकता से ऊपर? और अगर आवश्यकता से ऊपर कर रहे हैं तो आप कितनी बचत कर सकते हैं? यह जो हमारा प्रदेश है, वह बिजली के उत्पादन में कमजोर प्रदेश है। इसलिए आप सुझाव दें।" जिस पते से मैंने यह पत्र लिखा था, उस पते की अपनी कुछ गरिमा है। लेकिन आपको ताज्जुब होगा कि मुझे एक भी उद्योग घराने से इस पत्र की पावती तक नहीं मिली! और वह इसलिए कि ये सब व्यापारी जानते थे कि राज्यपाल तो सिर्फ अलंकार, आभूषण मात्र होते हैं, असली निर्णायक तो राजनीतिज्ञ ही होते हैं। इसलिए राज्यपाल को हम जवाब देकर क्यों अपना समय व्यर्थ करें। पानी की बचत न करें, हम समय की बचत करते हैं। इनको हम जवाब नहीं देते। वहीं मुझे एक भद्र महिला का एक बार बहुत प्यारा-सा पत्र मिला: महोदय, मैं राज्य के सबसे ऊंचे इस गरिमामय पद

को पत्र लिखते हुए गौरव का अनुभव कर रही हूं! पर ये उद्योगपति जानते थे कि राज्य का सबसे ऊंचा पद क्या है, कौन है, असली सत्ता किसके हाथ में है। इसलिए किसी ने मुझे बचत के बारे में लिखे उस पत्र का जवाब तक नहीं दिया!

हमारे द्वितीय राष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने सन् 1967 में अपने गणतंत्र दिवस के भाषण में कहा था: प्राकृतिक संसाधनों के कुप्रबंध और बचत, किफायत के खिलाफ फैल रही आग के प्रति हम देश को चेताना चाहते हैं। अगर आज वे हमारे बीच होते तो शायद एकदम मौन हो जाते। आज कोई पूछ नहीं रहा है। इस बारे में दुनियाभर में जागरूकता बढ़ रही है, लेकिन हम में नहीं है। हम कह रहे हैं कि विकसित देशों को बदलते मौसम के लिए अपनी खपत का स्तर घटाना ही होगा। यह सही बात है। उन्होंने जिस तरह दुनिया में खपत का स्तर बढ़ाया है और प्रदूषण बढ़ाया है, उसका हमारे साथ मुकाबला नहीं हो सकता। उनको यह रोक लगानी ही चाहिए लेकिन उसका बहाना बनाकर अगर हमारे उद्योग कुछ न करें, सिर्फ चुप बैठें तो माना जाएगा कि देश के भीतर जो 'पहली दुनिया' है, जो 'दूसरी दुनिया' है, वह तीसरी दुनिया की जनता के पीछे छिप कर अपने लुटेरेपन को बचा रही है। यह आज की हकीकतों में एक बहुत बड़ी हकीकत है। लेकिन कोई भी यह कड़वा सच बताएगा नहीं। इसका उल्लेख नहीं करेगा। सब बस यही कहेंगे कि फलां भ्रष्ट है या फलां राजनीति में अपने आपको बनाए रखना चाह रहा है।

हम जानते हैं कि हमारे खनिज पदार्थों का किस तरह दुरुपयोग हो रहा है, लेकिन आज यह सवाल पूछने वाला कोई नहीं है कि– हमारी कीमती खदानों की क्या हालत है। हमारे बेशकीमती खनिज आज किस हालत में आ गए हैं? हमारे प्राकृतिक साधनों की स्थिति कैसी है भला? इन सब धरोहरों का हम कितना उपयोग आज कर लेंगे, कितना कल के लिए और कितना कुछ परसों आने वाली पीढ़ी के लिए छोड़ जाएंगे।

तो आज हमारा जमाना एक ऐसा जमाना है, जिसमें हमें आशा की किरणें कम, निराशा का तमस ज्यादा दिख रहा है। मेरा मानना है कि यह परिस्थिति बहुत समय तक नहीं चल सकती। और अगर नहीं चल सकती है तो वह किस तरह बदलेगी? वह बदलेगी इस तरह कि बहुत सारे राजनीतिक प्रयोग एक साथ चलेंगे और हर प्रयोग में हम मिश्रण पाएंगे। वही मिश्रण जो 'ए टेल ऑफ टू सिटीज़' में चार्ल्स डिकिंस दिखा चुके हैं: वहां आशा होगी, वहां निराशा होगी। वहां होगा प्रकाश और होगा अंधकार भी। जब भी

कोई आशा की किरण दिखती है तो एकदम घप कर के उस पर एक दूषित बादल छा जाता है, उसको ढक देता है। कल तक तो हमें लग रहा था कि इतनी बढ़िया बात हुई है, आज हालत कुछ अलग है। लेकिन इन प्रयोगों में से, प्रयोगों के बाद, प्रयोगों से कुछ न कुछ निकलेगा जरूर। लेकिन ये प्रयोग बहुत महंगे साबित हो रहे हैं। क्योंकि ये प्रयोग किसी प्रयोगशाला में नहीं चलते। ऐसे राजनीतिक और सामाजिक प्रयोग तो हमारी जिंदगी में चलते हैं। वे हमारी रोजमर्रा की समस्याओं में खेले जाते हैं।

ताजमहल, महात्मा गांधी और दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र– इन तीन बातों से दुनिया में हमारे देश की ऊंची पहचान है। इन तीनों के बारे में मैं एक-दो शब्द कह कर अपनी बात समाप्त करता हूं। ताजमहल केवल भारत की सौंदर्य दृष्टि का प्रतीक नहीं है। यह तो उसकी अंतर आत्मा की, उसकी बहुलता की एक धवल धरोहर है। यह सांकेतिक ताज आज खतरे में है। उसको बचाए रखना बहुत जरूरी है। और कुछ बचे न बचे पर इसे किसी भी कीमत पर बचाना होगा।

ताजमहल, महात्मा गांधी और दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र– इन तीन बातों से दुनिया में हमारे देश की ऊंची पहचान है। इन तीनों के बारे में मैं एक-दो शब्द कह कर अपनी बात समाप्त करता हूं। ताजमहल केवल भारत की सौंदर्य दृष्टि का प्रतीक नहीं है। यह तो उसकी अंतर आत्मा की, उसकी बहुलता की एक धवल धरोहर है। यह सांकेतिक ताज आज खतरे में है। उसको बचाए रखना बहुत जरूरी है। और कुछ बचे न बचे पर इसे किसी भी कीमत पर बचाना होगा।

आज का हमारा जमाना इस धवल विरासत को खतरे में पा रहा है। उसे बचाना हम सबका बहुत बड़ा फर्ज बनता है। ताज और गांधी के बीच में कोई समानता है, कोई मेल है क्या? बिलकुल नहीं। वे गए थे जरूर एक बार ताजमहल देखने, पर उस भवन से वे कोई विशेष आकर्षित नहीं हुए। हुए हों, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। फिर भी बहुत बड़ा संबंध है। मैं आज इन दोनों के बारे में एक संगीतात्मक विचार आपके सामने रखना चाहता हूं। हम सब जानते हैं कि हमारा राष्ट्रीय गान गुरुदेव की देन है। पर हमारा जो राष्ट्रीय गान है, उसका संक्षिप्त रूप ही हम गाते हैं। बहुत बड़ा राष्ट्रीय गान कौन गा सकता है भला। पर गांधीजी की आश्रम भजनावली में हमें राष्ट्रीय गान का असंपादित, मूल रूप मिलता है। उसमें ये पंक्तियां हैं: 'घोर तिमिर घन निबिड निशीथे, पीड़ित मूर्च्छित देशे, ...दुस्वप्ने, आतंके रखा करिले अंके स्नेहीमयी तुमि माता।' यह गीत गुरुदेव ने राष्ट्रगान के रूप में तो लिखा नहीं था। घोर तिमिर घन निबिड़

निशीथे। आप इसको ध्रुपद की तरह भी ले सकते हैं। अगर कोई इसे ध्रुपद में गाए तो कैसे गाएगा– घोर तिमिर घन घोर तिमिर, घन घन घोर घोर घोर तिमिर घन– दौर है अंधकार का। घोर तिमिर घन निबिर निशीथे, पीड़ित मूर्च्छित देशे... दुस्वप्न आतंके रखा करिले अंके स्नेहमयी तुमि माता। ताज, गांधी और गांधी के दिए हुए गुरुदेव के इस पूर्ण गान में एक बहुत गहरा संबंध है। 'सारे जहां से अच्छा' के बारे में हम सब जानते हैं। एक सदाबहार, स्थायी सुंदरता से भरा गीत। हमें उस जैसी गेय सुंदरता से भरा दूसरा कोई गीत मिल नहीं सकता।

जहां उनकी जरूरत होगी, गांधी उस जगह एकदम समय पर पहुंच जाएंगे। वे बिलकुल ठीक समय पर वहां होंगे। अंतराष्ट्रीय स्तर पर भी वे हर जगह पर प्रेरणा देने एक उदाहरण की तरह, प्रबंधक की तरफ उपस्थित होंगे। वे समय के पाबंद ही नहीं, बल्कि अपने समय के आगे भी हैं। इसलिए वे ऐसी हर जगह समय पर पहुंच जाते हैं, अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं ऐसे लोग जो गांधी का नाम लिए बिना ऐसे सुंदर कामों में लगे हैं, वे भी अपनी छाप छोड़ेंगे। फिर चाहे वे गांधी के चित्र के आगे कोई दीया प्रज्ज्वलित करें या नहीं।

राकेश शर्मा जब चांद की यात्रा पर गए थे और तब की प्रधानमंत्री ने उनसे पूछा था कि चांद से आपको हिन्दुस्तान कैसा लग रहा है? इसके जवाब में अंतरिक्ष यान से राकेश शर्मा ने कहा थाः 'सारे जहां से अच्छा हिंदुस्तां हमारा'। इसे सुन कर हम सबके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन उस 'सारे जहां से अच्छा' में इकबाल कहते हैं– 'इकबाल कोई महरम अपना नहीं जहां में, मालूम क्या किसी को दरदे निहां हमारा'। इन पंक्तियों को हम याद नहीं रखते। सारे जहां से अच्छा, मजहब नहीं सिखाता, हम बुलबुले हैं आदि दोहराते रहते हैं। लेकिन इधर दरदे निहां हमारा और उधर घोर तिमिर घन याद नहीं हम लोगों को। हमको तो यह दर्द, यह तिमिर कौन दूर करेगा पता नहीं।

यह गांधी करता गया। दुनिया जानती है, गांधीवादी नहीं जानते हैं। गांधीवादी उस गांधी को चाहते हैं जो कि सुविधाजनक है। राजनीतिज्ञ उस गांधी को चाहते हैं जो कि और भी अधिक सुविधाजनक है। असुविधाजनक गांधी को कोई याद नहीं करता। आज उस असुविधाजनक गांधी का पुनः आविष्कार करना चाहिए, जो कि कड़वे सच बताए, खुद को भी और औरों को भी।

अंत में तीसरी बात लोकतंत्र की। हमारी जो पीड़ा है, वह शोषण से पैदा हुई है, लेकिन आज विडंबना यह है कि उस शोषण से उत्पन्न पीड़ा का भी शोषण हो रहा है। पीड़ा को दूर करने के लिए, पीड़ा की दवाई देने के बजाए, उस पीड़ा

को और पीड़ित करके, उस पीड़ा का शोषण करके, खुद का पोषण हो रहा है। यह है हमारा जमाना। लेकिन अगर हम अपने पर विश्वास रखें और अपने पर स्वराज लाएं तो हमारा जमाना बदलेगा। खुद पर स्वराज तो मुझे लगता है कि आगामी वर्षों में और बहुत वर्षों में नहीं, बल्कि बहुत जल्द हम अपने अनेक प्रयोगों से पा भी सकते हैं। लेकिन उसके लिए अपनी भूलें कुबूल करना, अपने खुद को सुधारना बहुत आवश्यक होगा।

लांजा देल वास्तो नामक एक बहुत बड़े दार्शनिक हुए हैं। उन्होंने गांधी के अंतिम क्षणों के बारे में कुछ लिखा है। उसी से आज इस संवाद का समापन करूंगा। हम सब जानते हैं कि आभा और मनु ने गांधीजी को अंतिम क्षण में राम का नाम लेते हुए सुना था। 'हे राम'। यह एक पुण्य, भव्य शब्द, अंतिम शब्द उनके कंठ से निकला था। लेकिन ठीक इससे पहले गांधीजी ने एक पूरा वाक्य कहा था। इसमें सर्वनाम, संज्ञा, क्रिया, वाक्य विन्यास सब कुछ था। यह गुजराती में था। उस दिन गांधीजी को पन्द्रह मिनट की देरी हो गई थी। आभा और मनु को गुजराती में उन्होंने कहाः 'मने मोडू थतू गंतो नक'। 'मुझे कहीं भी देर से पहुंचना अच्छा नहीं लगता'। तो उस शब्द हे राम को अभी किनारे रख दें। इस पूरे वाक्य को देखें। कहा गया अंतिम वाक्य।

लांजा देल वास्तो ने इसे नाटकीय रूप देते हुए कहा हैः गांधी ने अपने हत्यारे की ओर देखा और कहा, "अरे तुम तो विलंब से आए हो भाई।" मैं इसमें एक बहुत बड़ा मर्म देखता हूं। जो भी गांधी का अंत कर रहा है, जान कर या अनजाने में वह चूक जाता है। उसे विलंब हो जाता है। गांधी समय के पाबंद हैं। जहां उनकी जरूरत होगी, गांधी उस जगह एकदम समय पर पहुंच जाएंगे। वे बिलकुल ठीक समय पर वहां होंगे। अंतराष्ट्रीय स्तर पर भी वे हर जगह पर प्रेरणा देने एक उदाहरण की तरह, प्रबंधक की तरफ उपस्थित होंगे। वे समय के पाबंद ही नहीं, बल्कि अपने समय के आगे भी हैं। इसलिए वे ऐसी हर जगह समय पर पहुंच जाते हैं, अपनी अमिट छाप छोड़ते हैं। ऐसे लोग जो गांधी का नाम लिए बिना ऐसे सुंदर कामों में लगे हैं, वे भी अपनी छाप छोड़ेंगे। फिर चाहे वे गांधी के चित्र के आगे कोई दीया प्रज्ज्वलित करें या नहीं।

गांधी शांति प्रतिष्ठान में 30 जनवरी 2014 को दिए गए भाषण के अंश।

*

सत्याग्रह, हलुवा और हकीकी जिंदगी

रजी अहमद

गांधीजी पहली बार दस अप्रैल सन् 1917 को पटना पहुंचे थे। उस वक्त उनको पटना में श्री मजहरुल हक के अलावे कोई नहीं जानता था। लखनऊ में चंपारण के किसानों के प्रतिनिधियों को दिए आश्वासनों के आलोक में अपने तय किए कार्यक्रम के अनुसार उनको चंपारण जाना था। चंपारण के किसानों के हितों की लड़ाई लड़ रहे पंडित राजकुमार शुक्ल उनके साथ आए थे। राजकुमारजी अपने परिचित पटना के मशहूर वकील राजेन्द्र प्रसाद के यहां उन्हें ले गए। अजीब इत्तेफाक था कि राजेन्द्र बाबू पटना में नहीं थे। उनके नौकरों ने दोनों व्यक्तियों को साधारण मुअक्किल समझा और उन्हें कुछ तवज्जो नहीं दी। छुआ-छूत का जमाना था। पता नहीं ये किस जाति के हैं। राजेन्द्र बाबू के शौचालय तक का भी इस्तेमाल करने की इजाजत गांधीजी को, शुक्लजी को नहीं दी गई।

बेचारे गांधीजी एक विचित्र परिस्थिति में फंस गए। उन्हें एहसास हो गया कि शुक्लजी पटना के माहौल में ज्यादा मददगार नहीं हो सकते। अब उन्हें ही कुछ फैसला करना था। वे पहली बार बिहार आए थे और यहां के बारे में कुछ ज्यादा जानते नहीं थे। यहां की सामाजिक उलझनों से उनका पहली बार वास्ता पड़ा, जो बड़ा तल्ख था। वे करें तो क्या करें? पशो-पेश में पड़ गए। राजकुमारजी राजेन्द्र बाबू के अलावे किसी और को शहर में जानते ही नहीं थे। उसी उलझन में पड़े मोहनदास करमचंद गांधी को लंदन में साथ पढ़े अपने एक साथी मजहरुल हक की याद आई। मजहरुल हक साहेब पटना के नामी बैरिस्टर बन गए थे और गवर्नर काउंसिल के एक

सदस्य भी थे। गांधीजी ने एक पत्र लेकर राजकुमार शुक्ल को मजहरुल हक साहेब के पास भेजा। उन दिनों हक साहेब फ्रेजर रोड स्थित अपने शानदार बंगलो 'सिकंदर मंजिल' में रहते थे। पत्र पाते ही हक साहेब खुद अपनी गाड़ी लेकर राजेन्द्र बाबू के मकान 'व्हाईट हाऊस' पहुंचे। मायूसी में घिरे गांधीजी को वहां से अपने यहां ले आए। हक साहेब के यहां आने के बाद गांधी ने राहत की सांस ली।

अजीब इत्तेफाक था कि राजेन्द्र बाबू पटना में नहीं थे। उनके नौकरों ने दोनों व्यक्तियों को साधारण मुअक्किल समझा और उन्हें कुछ तवज्जो नहीं दी। छुआ-छूत का जमाना था। पता नहीं ये किस जाति के हैं। राजेन्द्र बाबू के शौचालय तक का भी इस्तेमाल करने की इजाजत गांधीजी को, शुक्लजी को नहीं दी गई।

बहुत दिनों के बाद दो दोस्त मिले थे। मजहरुल हक चाहते थे कि गांधीजी कुछ दिन उनके साथ ठहरें। लेकिन गांधीजी ने कहा कि वे जिस काम से चंपारण जा रहे हैं, वह उनकी प्राथमिकता है। अतः हक साहेब से सलाह-मिशवरा कर उसी शाम में वे मुजफ्फरपुर के लिए निकल पड़े।

दिघा घाट में स्टीमर पकड़ा और गंगा पार कर पहलेजा घाट पहुंचे। वहां से घटही गाड़ी से सोनपुर होते हुए गांधीजी राजकुमार शुक्ल के साथ रात में मुजफ्फरपुर पहुंचे।

स्टेशन पर आचार्य जे.बी. कृपलानी अपने छात्रों के साथ प्लेटफार्म पर गांधीजी की अगुवाई के लिए मौजूद थे। गाड़ी पहुंची, छात्रों की भीड़ गांधीजी के स्वागत के लिए फर्स्ट क्लास के सामने इकट्ठा थी, पर गांधीजी तो गाड़ी से उतरे ही नहीं! दिलचस्प बात तो यह थी कि स्वागतकर्ताओं में कोई गांधीजी को पहचानता ही नहीं था। राजकुमार शुक्ल के साथ गांधीजी तीसरे दर्जे के डिब्बे से उतरे। वे अपनी काठियावाड़ी पगड़ी लगाए साधारण पोशाक में अपनी गठड़ी लिए प्लेटफार्म के एक कोने में खड़े थे। लड़के प्लेटफार्म पर भाग-दौड़ कर रहे थे। गांधीजी के नाम की जय-जयकार हो रही थी, उनके सामने से लोग गुजर रहे थे। लेकिन गांधीजी को तो कोई पहचान ही नहीं रहा था। आखिर शुक्लजी ने छात्रों से कहा कि जिस व्यक्ति के स्वागत के लिए वे परेशान हो रहे हैं, गांधी तो यहां खड़े हैं!

एक जमीनदार से उनकी बग्घी-गाड़ी मांग कर कृपलानीजी अपने छात्रों के साथ गांधीजी के स्वागत के लिए स्टेशन आए थे। लड़के इतने उत्साहित

थे कि बग्घी से घोड़ा हटाकर खुद ही गाड़ी को खींचते हुए, जय-जयकार करते हुए, तत्कालीन जी.बी.बी. कॉलेज के हॉस्टल तक गांधीजी को ले आए।

छात्रों का उत्साह स्वाभाविक था क्योंकि उन्हें आज उस गांधी का स्वागत करने का सुअवसर मिल रहा था, जिसने दक्षिण अफ्रीका में नस्लवाद के खिलाफ अहिंसक लड़ाई में शानदार जीत हासिल की थी। वहां अपनाए गए 'सत्य और अहिंसा' आधारित अचूक हथियार सत्याग्रह से लैस वे अभी कोई दो बरस पहले ही तो हिंदुस्तान लौटे थे। आज वही गांधी वर्षों से नीलहे जमीनदारों के अमानवीय अत्याचारों के शिकार चंपारण के हजारों किसानों को निजात दिलाने मुजफ्फरपुर पहुंचे थे। छात्रावास के सुपरिटेनडेंट आचार्य जे.बी. कृपलानी के वे मेहमान हुए। लेकिन दूसरे दिन एक वकील गयाप्रसाद सिंह के यहां चले गए थे क्योंकि एक सरकारी अधिकारी के साथ रहकर सरकार के विरुद्ध किसी तरह का आंदोलन चलाना उन्होंने उचित नहीं समझा।

आचार्य जे.बी. कृपलानी अपने छात्रों के साथ प्लेटफार्म पर गांधीजी की अगुवाई के लिए मौजूद थे। गाड़ी पहुंची, छात्रों की भीड़ गांधीजी के स्वागत के लिए फर्स्ट क्लास के सामने इकट्ठा थी, पर गांधीजी तो गाड़ी से उतरे ही नहीं! दिलचस्प बात तो यह थी कि स्वागतकर्ताओं में कोई गांधीजी को पहचानता ही नहीं था। राजकुमार शुक्ल के साथ गांधीजी तीसरे दर्जे के डिब्बे से उतरे। वे अपनी काठियावाड़ी पगड़ी लगाए साधारण पोशाक में अपनी गठड़ी लिए प्लेटफार्म के एक कोने में खड़े थे।

मुजफ्फरपुर में गांधीजी ने बदनाम हो चुकी नील की खेती से सरोकार रखने वाले संगठन प्लांटर्स एसोसिऐशन के जिम्मेदार लोगों, डिवीजनल कमिश्नर सहित वहां के सरकारी अधिकारियों से चंपारण के किसानों की स्थिति पर विचार-विमर्श किया। फिर पन्द्रह अप्रैल, 1917 को वे मोतिहारी पहुंचे। इस मोतीहारी को हिंदुस्तान में सत्याग्रह की पहली प्रयोगशाला होने का गर्व हासिल होने वाला था। गांधीजी के आगमन को न तो सरकारी हल्के में पसंद किया गया और न प्लांटर्स एसोसिऐशन के जिम्मेदारों ने ही। गांधीजी को स्थिति की गंभीरता का पूरा एहसास हो चुका था और अब वे हर तरह की अनहोनी के लिए मानसिक रूप से तैयार हो चुके थे। एक लंबी लड़ाई की तैयारी हो चुकी थी। बाल गंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, मालवीय जी,

मजहरुल हक, ईमाम बंधु जैसे लोग भी अब सहयोग के लिए तैयार थे।

अभी पन्द्रह अप्रैल को तो वे मोतिहारी पहुंचे ही थे कि सोलह अप्रैल को उन्हें सरकारी हुक्म हो गया कि वे चंपारण अविलंब छोड़ दें। गांधीजी ने उस फरमान को मानने से इनकार कर दिया। लिहाजा अट्ठारह अप्रैल को उन पर मोतिहारी में मुकदमा चला। सरकारी वकील, एस.डी.ओ. और प्लांटर्स एसोसिऐशन के जिम्मेदार लोग पूरी तैयारी के साथ अदालत में मौजूद थे कि आज बैरिस्टर गांधी पर सरकारी आदेश को नहीं मानने के इलजाम में मुकदमा चलना था। जिस तरह सरकारी लोग कानूनी किताबों के साथ अदालत में मौजूद थे, लोग समझ रहे थे कि गांधीजी भी अपने सहयोगी वकीलों के साथ अदालत में अपनी सफाई देंगे।

लेकिन यहां बात ही उलटी निकली। बजाए अपनी कोई सफाई देने के गांधीजी ने सरकारी हुक्म की अवहेलना करने का जुर्म कबूल कर लिया। और वे उसके लिए जो भी सजा दी जाएगी, उसे भुगतने को तैयार थे। न मुकदमा लिखने को तैयार हुए और न एक रुपया भी जुर्माना देने को। उन्होंने अपना लिखित बयान दिया जो सरकारी व्यवस्था के लिए अचम्भे की बात थी।

एक जमीनदार से उनकी बग्घी-गाड़ी मांग कर कृपलानीजी अपने छात्रों के साथ गांधीजी के स्वागत के लिए स्टेशन आए थे। लड़के इतने उत्साहित थे कि बग्घी से घोड़ा हटाकर खुद ही गाड़ी को खींचते हुए, जय-जयकार करते हुए तत्कालीन जी.बी.बी. कॉलेज के हॉस्टल तक गांधीजी को ले आए।

पहली बार अंग्रेजी सरकार को एक नई परिस्थिति से वास्ता पड़ा था। मोतिहारी की छोटी अदालत से लेकर पटना के गवर्नर हाऊस तक खलबली मच गई। हिंदुस्तान के लेफ्टिनेंट गवर्नर जनरल को हस्तक्षेप करना पड़ा। मुकदमा वापस लिया गया और चंद दिनों के अंदर किसानों की हालत जानने के लिए एक कमीशन बहाल हुआ। चंपारण में ही हिंदुस्तान के गांवों और उनकी खस्ताहाली का परिचय गांधीजी को हो गया और हिंदुस्तान के उत्थान की जो नीति उन्होंने बनाई, उसमें चंपारण के प्रयोगों का बहुत बड़ा हाथ रहा।

ब्रजकिशोर प्रसाद, राजेन्द्र प्रसाद, रामनवमी प्रसाद, अनुग्रह नारायण सिंह, गयाप्रसाद सिंह जैसे बिहार के नामी वकीलों ने गांधीजी के साथ

किरानी बनना स्वीकार कर लिया। एक रचनात्मक फिजा बनी। किसानों की तकदीर बदलेगी, यह उम्मीद जगी। गांधीजी तो केवल स्थिति की जानकारी लेने आए थे, लेकिन परिस्थितिवश उन्हें तुरंत अपने कार्यक्रम में लग जाना पड़ा। अपने कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए अपने और सहयोगियों के रहने के लिए कुछ जगह तो चाहिए थी न। मोतिहारी में राम बाबू की फुलवारी के मकान को इसके लिए चुना गया।

यहां के बड़े वकील रईसों की जिंदगी जीने के आदि थे। ज्यादातर वकीलों के साथ कम से कम तीन-तीन नौकर थे। हर काम के लिए अलग-अलग नौकर और मददगार। चंद दिनों के बाद गांधीजी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के तजुर्बों के आधार पर कुछ पहल की। सलाह मशविरा के बाद तय हुआ कि जब गरीब किसानों को उत्पीड़न से निजात दिलाने की कोशिश की जानी है तो व्यवस्था पर कम से कम खर्च किया जाना चाहिए। नौकरों की जरूरत ही नहीं है। इस मद पर क्यों खर्च किया जाए? नतीजतन चंद दिनों के भीतर सब लोग अपना-अपना काम खुद करें, यह माहौल बन गया। नौकरों को वापस घर भेज दिया गया। अब हर व्यक्ति ने एक-एक काम की जिम्मेदारी संभाल ली थी।

अभी पन्द्रह अप्रैल को तो वे मोतिहारी पहुंचे ही थे कि सोलह अप्रैल को उन्हें सरकारी हुक्म हो गया कि वे चंपारण अविलंब छोड़ दें। गांधीजी ने उस फरमान को मानने से इनकार कर दिया। लिहाजा अट्ठारह अप्रैल को उन पर मोतिहारी में मुकदमा चला। सरकारी वकील, एस.डी.ओ. और प्लांटर्स एसोसिऐशन के जिम्मेदार लोग पूरी तैयारी के साथ अदालत में मौजूद थे कि आज बैरिस्टर गांधी पर सरकारी आदेश को नहीं मानने के इल्जाम में मुकदमा चलना था।

उन लोगों में सबसे ऊपर थे ब्रजकिशोर बाबू। रसोई-घर और खाना बनाने की जिम्मेदारी उनको सौंपी गई। फिर जब कस्तूरबा गांधी मोतिहारी आ गईं तो यह जिम्मेदारी उन्होंने संभाली। अभी ब्रजकिशोर बाबू ही रसोई देखते थे कि एक दिन गांधीजी ने फरमाईश कर दी कि आज तो हलुवा खाया जाए। यह कह कर गांधीजी तो वहां से हट गए और अपने कामों में लग गए। अब 'मुख्य रसोइया' बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद के लिए यह बड़े इम्तेहान की वह घड़ी आ पड़ी। गांधीजी की इस नई फरमाईश ने उनके

हाथ-पांव फुला दिए। कच्ची-पक्की रोटी, खिचड़ी, सब्जी तो किसी तरह वे अपने सहयोगियों के साथ बना लिया करते थे। पर यह हलुवा कैसे बने? हलुवा-पुरी तो वे खाते रहे थे, उसी खाते-पीते वर्ग से तो वे थे। लेकिन वह सब बनता कैसे है – बड़े वकील साहेब को कहां मालूम था। सब परेशान। आखिर गांधीजी की फरमाईश पूरी कैसे हो?

लेकिन यहां बात ही उलटी निकली। बजाए अपनी कोई सफाई देने के गांधीजी ने सरकारी हुक्म की अवहेलना करने का जुर्म कबूल कर लिया और उसके लिए जो भी सजा दी जाएगी, उसे वे भुगतने को तैयार थे। न मुकदमा लिखने को तैयार हुए और न एक रुपया भी जुर्माना देने को। उन्होंने अपना लिखित बयान दिया जो सरकारी व्यवस्था के लिए अचम्भे की बात थी।

गांधीजी कहीं से लौटे तो परिस्थिति को भांप गए। मुस्कुराते हुए बोले, वकील साहेब, कानूनी दांव-पेंच और वकालत की गुत्थियों को सुलझाना और बात है लेकिन हकीकी जिंदगी जीने के तरीके और हैं। मीठा ही तो खाना है... मूंगफली के दानों को सिल पर पीस लें और उसमें गुड़ मिला दें। बस हलुवा तैयार हो जाएगा। फिर क्या था। सिल पर दरदरी पिसी हुई मूंगफली और गुड़ के हलुवे को, 'गांधी हलुवे' को सबों ने मिलकर साथ खाया।

जिस ब्रजकिशोर प्रसाद और उनकी रसोई-घर की टीम को गांधीजी हलुवा बनाने की कला सिखा रहे थे, वे बिहार के बड़े नामी वकील तो थे ही, वे उस राजेन्द्र बाबू के राजनैतिक पथ प्रदर्शक भी थे। ये आगे चलकर हिंदुस्तान के पहले राष्ट्रपति भी बने थे। राजेन्द्र बाबू उस वक्त खुद ही बिहार के एक मशहूर वकील थे।

इन सब सहयोगियों की अथक कोशिशों से पहला 'सत्याग्रह' बहुत कम दिनों में सफल हुआ और नील के अभिशाप से चंपारण के किसानों को निजात मिली। चंपारण सत्याग्रह हिंदुस्तान में गांधीजी का पहला सत्याग्रह था। समय बीतने के साथ चंपारण और बिहार गांधीजी की कर्मभूमि ही मान ली गई। चंपारण सत्याग्रह के बीच जो लोग गांधीजी के संपर्क में आए वे आगे चलकर देश के निर्माताओं में गिने गए। चंपारण में गांधीजी न सिर्फ सत्य और अहिंसा का सार्वजनिक हितों में प्रयोग कर रहे थे बल्कि हलुवा बनाने से लेकर सिल पर मसाला पीसने और चक्की चलाकर गेहूं का आटा

बनाने की कला भी उन बड़े वकीलों को सिखा रहे थे, जिन्हें गरीबों की अगुवाई की जिम्मेदारी सौंपी जानी थी। अपने इन आध्यात्मिक प्रयोगों के माध्यम से वे देश की गरीब जनता की सेवा करने और उनकी तकदीर बदलने के साथ देश को आजाद कराने के लिए समर्पित व्यक्तियों की एक ऐसी जमात तैयार करना चाह रहे थे जो सत्याग्रह की भट्टी में उसी तरह तप कर निखरे, जिस तरह भट्टी में सोना तपकर निखरता और कीमती बनता है।

यहां के बड़े वकील रईसों की जिंदगी जीने के आदि थे। ज्यादातर वकीलों के साथ कम से कम तीन-तीन नौकर थे। हर काम के लिए अलग-अलग नौकर और मददगार। चंद दिनों के बाद गांधीजी ने अपने दक्षिण अफ्रीका के तजुर्बों के आधार पर कुछ पहल की। सलाह मशविरा के बाद तय हुआ कि जब गरीब किसानों को उत्पीड़न से निजात दिलाने की कोशिश की जानी है तो व्यवस्था पर कम से कम खर्च किया जाना चाहिए। नौकरों की जरूरत ही नहीं है। इस मद पर क्यों खर्च किया जाए? नतीजतन चंद दिनों के भीतर सब लोग अपना-अपना काम खुद करने लगे।

गांधीजी की मान्यता थी कि एक प्रतिष्ठित वकील और हजामत बनाने वाले हज्जाम में पेशा के लिहाज से कोई फर्क नहीं, दोनों की हैसियत एक ही है। उन्होंने पसीने की कमाई को सबसे अच्छी कमाई माना और शारीरिक श्रम को अहमियत देते उसे उचित प्रतिष्ठा व सम्मान दिया था। कोई काम बड़ा नहीं, कोई काम छोटा नहीं, इस मान्यता को उन्होंने स्थापित करना चाहा। मर्यादाओं और मानव मूल्यों को उन्होंने प्राथमिकता दी ताकि साधन शुद्धता की बुनियाद पर एक ठीक समाज खड़ा हो सके। आजाद हिंदुस्तान आत्मनिर्भर, स्वाबलंबी और आत्म सम्मानित देश के रूप में विश्व बिरादरी के बीच अपनी एक खास पहचान बनाए और फिर उसे बरकरार भी रखे।

पटना गांधी संग्रहालय के निदेशक
श्री रजी अहमद उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी में लिखते हैं।

*

शाकाहार के बहाने

चेतना जोशी

मैं शाकाहारी हूं। पर जरा उस तरह की शाकाहारी हूं जो मौका पड़ने पर शाकाहार का गुणगान या कहें तो उसका विज्ञापन अपने सामिष मित्रों के सामने करने से बाज नहीं आते! निरामिष होना एक किस्म की श्रेष्ठता का भाव जगाता है। मैंने शाकाहारी होने का चुनाव नहीं किया था। यह खाने पीने की पारिवारिक पृष्ठभूमि से मुझे विरासत में मिल गया था। हां इस मिली हुई धरोहर की रक्षा जरूर मैंने की है।

शाकाहार का गुणगान अक्सर ही मेरे और मेरे सामिष मित्रों के बीच तर्क-वितर्क बहस में बदल जाता है। सामिष भोजन के पक्षधरों का तर्क बड़ा विचित्र होता है। वे तो कहते हैं कि पेड़ पौधे तो वायुमंडल से जहरीली कार्बन डाई ऑक्साइड गैस को ग्रहण करने जैसा भला काम करते हैं। अतः उनको खाने से, उनको नष्ट करने से तो नुकसान ही होगा। इसके उलटे चूजे और मेमने, बकरे आदि तो पर्यावरण की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखते। वे तो पैदा ही इसलिए हुए कि एक दिन स्वादिष्ट भोजन बन सकें! इसलिए शाकाहार-मांसाहार की बहस में पड़े बिना उनको खा लेना ही ज्यादा उचित है!

ऐसी विचित्र बातों को तो किनारे ही रखें। इधर कई ऐसे नए अध्ययन सामने आए हैं जो सामिष भोजन के 'कार्बन फुट प्रिंट्स' को निरामिष से ज्यादा बता रहे हैं। सामिष के पक्षधरों, मेरे हिसाब से कुतर्कधरों को ये कुछ नई बातें भी जान ही लेना चाहिए। पर पहले तो हम इस 'कार्बन फुट प्रिंट' को जरा समझ लें। जलवायु परिवर्तन जैसे खतरों को समझाने के लिए जो नई शब्दावली विकसित हुई है, उसका एक प्रमुख शब्द, या कहें एक सदस्य है कार्बन फुट प्रिंट। फुट प्रिंट का सीधा सादा हिंदी अनुवाद हैः पद्चिन्ह या छाप। पर यह प्रयोग अच्छे अर्थों में आता है। अपने समाज में, अपने क्षेत्र में किसी व्यक्ति ने

कोई सुंदर काम किया हो तो कहते हैं कि उनकी छाप यहां छूटी है। उनके पदचिन्हों पर हमें आगे बढ़ना है आदि। पर विज्ञान की दुनिया में, बदलते मौसम की, जलवायु परिवर्तन की भाषा में कार्बन शब्द जुड़ जाने से इस पद्चिन्ह का अर्थ एकदम उलटा हो जाता है। वह उदात्त या अच्छे योगदान के बदले कुप्रभाव के अर्थ में बदल जाता है। फिर पर्यावरण विज्ञान में इस्तेमाल होने वाला 'कार्बन फुट प्रिंट' मनुष्य का भी हो सकता है, उत्पादों, संस्थाओं और देशों तक का भी। दुनिया भर में इन्द्रियों द्वारा पहचानने योग्य जितनी भी चीजें मौजूद हैं, उन सबका एक कार्बन फुट प्रिंट माना गया है। इस कार्बन फुट प्रिंट को एक व्यक्ति के संदर्भ में कैसे देखा जाए? इसे सरल ढंग से समझना हो तो कहा जाएगा कि इस व्यक्ति ने अपने पूरे जीवनकाल में भूमंडल में व्याप्त ग्रीन हाउस गैसों को बढ़ाने में व्यक्तिगत रूप से कितना असर डाला है। भोजन के संदर्भ में इसका आशय यह हुआ कि जिन सब अवयवों से मिलकर वह भोजन बना है, उन अवयवों की पैदावार से लेकर कटाई, छटाई, फिर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ढोना, लाना, उसके परिवहन से लेकर पकाने और पचाने योग्य बनाने के पूरे सफर में या दूसरे शब्दों में कहें तो उसके पूरे जीवन काल में उसके द्वारा वायुमंडल में छोड़ी गई ग्रीन हाउस गैस की मात्रा कितनी है? कुल मिलाकर कार्बन फुट प्रिंट, कार्बन पदछाप एक तुलनात्मक मापक भी है। अगर अ नामक किसी चीज का कार्बन पद्छाप उत्पाद ब से ज्यादा है तो इसका मतलब यह हुआ है कि अपने कुल जीवन काल में उत्पाद अ उत्पाद ब की तुलना में ज्यादा ग्रीन हाउस गैसों को वातावरण में उत्सर्जित करता है। सामिष भोजन के कार्बन पदछाप ज्यादा होने का मतलब है कि ऐसे व्यंजन, ऐसा खाना निरामिष भोजन की तुलना में ज्यादा मात्रा में ग्रीन हाउस गैसें छोड़ते हैं।

विज्ञान की दुनिया में, बदलते मौसम की, जलवायु परिवर्तन की भाषा में कार्बन शब्द जुड़ जाने से (इस पद चिन्ह) का अर्थ एकदम बदल जाता है। वह उदात्त या अच्छे योगदान के बदले कुप्रभाव के अर्थ में बदल जाता है। फिर पर्यावरण विज्ञान में इस्तेमाल होने वाला 'कार्बन फुट प्रिंट मनुष्य का भी हो सकता है, उत्पादों, संस्थाओं और देशों तक का भी दुनिया भर में इन्द्रियों द्वारा पहचानने योग्य जितनी भी चीजें मौजूद हैं, उन सबका एक कार्बन फुट प्रिंट माना गया है।

मैं शाकाहारी हूं और साथ ही कुछ नया विज्ञान भी पढ़ लिख गई हूं, इसलिए मेरी भाषा में, मेरे कहने-लिखने में नई शब्दावली का प्रयोग कुछ न कुछ

आ ही जाएगा। सूर्य के द्वारा उत्सर्जित विद्युत चुंबकीय तरंगें जब धरती की सतह से टकराती हैं तो उष्मीय अवरक्त किरणें, इन्फ्रारैड किरणें निकलती हैं। ये टकराकर फिर धरती की सतह से वापस ऊपर को लौटती हैं। परंतु ये किरणें धरती के वायुमंडल में उपस्थित कुछ 'ग्रीन हाउस गैसों' द्वारा सोख ली जाती हैं। फिर वापस हर एक दिशा में फेंक दी जाती हैं। इस दौरान इन किरणों का एक भाग वापस धरती की तरफ रुख कर लेता है। इससे धरती का औसत तापमान बढ़ जाता है। वैसे धरती में मौजूदा जीवन को संभव बनाने के लिए जिस तापमान की जरूरत होती है, उस तापमान को बनाए रखने का श्रेय भी इन्हीं गैसों को जाता है। सतत् वैज्ञानिक शोधों से निकले आंकड़े बताते हैं कि अगर ये गैसें वातावरण में नहीं हों तो धरती का औसत तापमान शून्य से 18.1 डिग्री नीचे होता जो कि वास्तविक औसत तापमान 14.4 डिग्री सेंटीग्रेट से 32.5 डिग्री सेंटीग्रेट कम है। इस संतुलन के कारण ही धरती में जीवन के लिए आवश्यक तापमान की मौजूदगी बनी रहती है। इसे यही गैसें सुनिश्चित करती हैं। वातावरण में ग्रीन हाउस गैसों की सघनता इनके उत्सर्जन की मात्रा तथा वायुमंडल से इनकी निकासी की दर के बीच के इसी संतुलन पर निर्भर करती हैं। संतुलित कुल भंडार में आवक-जावक तो लगी ही रहती है। इस आवक-जावक में प्रकृति भी शामिल है और मानव की गतिविधियां भी। यदि ये गैसें हमारी पृथ्वी पर न होतीं तो इनकी अनुपस्थिति धरती पर अभी के जैसे जीवन को असंभव बना देती। दूसरी तरफ इनकी अधिक मात्रा में उपस्थिति भी भयावह है। इनकी सघनता के बढ़ने का सीधा मतलब है धरती के तापमान का उस औसत से ज्यादा होना जो औसत बिंदु हमारे कुल जीवन को टिकाता है।

सूर्य के द्वारा उत्सर्जित विद्युत चुंबकीय तरंगें जब धरती की सतह से टकराती हैं तो उष्मीय अवरक्त किरणें, इन्फ्रारैड किरणें निकलती हैं। ये टकराकर फिर धरती की सतह से वापस ऊपर को लौटती हैं। परंतु ये किरणें धरती के वायुमंडल में उपस्थित कुछ 'ग्रीन हाउस गैसों' द्वारा सोख ली जाती हैं। फिर वापस हर एक दिशा में फेंक दी जाती हैं। इस दौरान इन किरणों का एक भाग वापस धरती की तरफ रुख कर लेता है। इससे धरती का औसत तापमान बढ़ जाता है।

हम सबने मिलकर पिछले दौर में इतने सारे खराब काम किए हैं कि ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हो गई है। वायुमंडल में इनकी मात्रा में भयानक वृद्धि हुई है। इसका सीधा असर धरती के तापमान में लगातार

बढ़ोत्तरी के रूप में सामने आ रहा है। परेशानी इतनी बढ़ी कि दुनिया भर के देश इस 'ग्लोबल वार्मिंग' नामक दैत्य से कैसे निपटें– ये समझ ही नहीं पा रहे। जलवायु परिवर्तन का सबसे खतरनाक उदाहरण है तापमान का बढ़ते जाना। इसी कारण पूरी दुनिया के हिमखंड पिघलने लगे हैं तथा महासागरों समुद्रों के स्तर में बढ़ोत्तरी का डर फैलने लगा है। जिस सागर के बारे में माना जाता था कि वह अपनी मर्यादा नहीं तोड़ता कभी, अब तो हर तट पर वह मर्यादा भंग करता हुआ दिख रहा है।

दुनिया भर में सबसे ज्यादा मात्रा में उत्सर्जित ग्रीन हाउस गैस कार्बन डाई ऑक्साइड है। यह जीवाश्म ईंधन जैसे कोयला, यातायात में प्रयोग होने वाला पैट्रोल तथा डीजल और नेचुरल गैस से निकलती है। इसके बाद मीथेन गैस का नंबर आता है। मात्रा कम पर इसका असर ज्यादा है। भूमंडल के तापमान को प्रभावित करने की इसकी क्षमता कार्बन डाई ऑक्साइड के मुकाबले 25 गुना ज्यादा है। बताया जाता है कि धान के खेत इसका एक बड़ा स्रोत हैं। घरेलू पशु जैसे की गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि भोजन पचाने के दौरान काफी मात्रा में मीथेन गैस छोड़ते हैं– ऐसा भी बताया जाता है। बड़े शहरों के कचरा भराव क्षेत्र भी मीथेन पैदा करने का एक अड्डा हैं। इन सभी स्रोतों से इस गैस के उत्सर्जन के पीछे इन जगहों पर मौजूद ऐसे बहुत ही सूक्ष्म जीव भी हैं, जो पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन मौजूद न होने की स्थिति में कार्बनिक पदार्थों को तोड़कर अपना भोजन बना लेते हैं। इस प्रक्रिया में भी काफी मात्रा में मीथेन गैस निकलकर हमारे वातावरण में पहुंच जाती है।

कार्बन डाई ऑक्साइड और मीथेन पर ही मामला खत्म नहीं हो जाता। दुनिया भर के तापमान को बढ़ाने में इस मीथेन से भी 300 गुना ज्यादा प्रबल नाइट्रस ऑक्साइड गैस है। यह कहां से पैदा होती है? इसका मुख्य स्रोत कृषि तथा औद्योगिक इकाइयां हैं। फिर शीतल करने के लिए उपयोग में आने वाली विभिन्न गैसें भी ग्रीन हाउस गैसों की श्रेणी में आती हैं। इनकी प्रबलता कार्बन डाई ऑक्साइड से हजारों गुना ज्यादा बताई गई है।

अलग-अलग प्रक्रियाओं में कई सारी ग्रीन हाउस गैसें फैलती हैं। इन गैसों की मारक शक्ति, प्रबलता को कार्बन डाई ऑक्साइड के प्रभाव के रूप में तौला जाता है। इसका मतलब है कि एक प्रक्रिया में निकली कई तरह की ग्रीन हाउस गैसें भूमंडल के तापमान को प्रभावित करने की जो क्षमता रखती हैं, वही प्रभाव अगर अकेले कार्बन डाई ऑक्साइड से नापना हो तो उसकी जितनी मात्रा की जरूरत होगी उसको आंका जाता है। कार्बन डाई ऑक्साइड की यही मात्रा उस प्रक्रिया का कार्बन फुट प्रिंट कहलाती है। भोजन के संदर्भ में एक खाद्य पदार्थ

द्वारा दूसरे की तुलना में कार्बन डाई ऑक्साइड कितनी ज्यादा या कम पैदा हुई, इसी आधार पर वह पर्यावरण के लिए ज्यादा या कम उपयुक्त माना जा सकता है। कई तरह के अध्ययनों ने विभिन्न खाद्य पदार्थों और व्यंजनों के कार्बन फुट प्रिंट्स निधारित किए हैं। ये शोध ऐसा बताते हैं कि बकरे के गोश्त से बने व्यंजन द्वारा अपने जीवनकाल में दूध की तुलना में कोई 12 गुना, मछली से बने व्यंजन की तुलना में लगभग 12 गुना, चावल की तुलना में 13 गुना और रोटी की तुलना में कोई 37 गुना ज्यादा ग्रीन हाउस गैसें निकलती हैं। एक आकलन के मुताबिक एक बार का भोजन जिसमें बकरे के गोश्त से बनी कोई एक चीज हो वह एक बार के निरामिश भोजन, जिसमें गोश्त की जगह अंडों ने ले ली हो, 1.5 गुना ज्यादा और दूध युक्त निरामिष, शाकाहारी भोजन की तुलना में 1.4 गुना ज्यादा ग्रीन हाउस गैसें उत्सर्जित करता है।

भूमंडल में उत्सर्जित कुल ग्रीन हाउस गैसों में से 14 प्रतिशत के लिए वैज्ञानिक हमारी कृषि को जिम्मेवार ठहराते हैं। फिर कृषि के भीतर भी इन गैसों का सबसे बड़ा स्रोत पशुधन बताया गया है– लगभग 40 प्रतिशत। इनमें पाचन के दौरान मीथेन गैस पैदा होती है और डकार के माध्यम से वातावरण में पहुंच जाती है। एक बड़ी प्रसिद्ध संस्था हैः इंटरनेशनल पैनल ऑन क्लाइमेट चेंज। इसने अपनी इसी साल प्रकाशित पांचवीं रिपोर्ट में ग्रीन हाउस गैसों की मात्रा में कमी लाने के लिए ऐसे भोजन की मांग को बढ़ाने की बात कही है, जिसके द्वारा ग्रीन हाउस गैसों का कम से कम मात्रा में उत्सर्जन होता हो। रिपोर्ट के अनुसार सामिष से निरामिष की तरफ, मांसाहार से शाकाहार की तरफ प्रस्थान एक ऐसा महत्पूर्ण बदलाव है, जिससे इन घातक गैसों की मात्रा में काफी कमी आ सकती है। यह संस्था संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में काम करती है। इसे अपने कामों के कारण नोबल पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है। इस संस्था ने यह भी अपील की है कि पूरी तरह शाकाहारी न बन पाए कोई व्यक्ति, कोई समाज, कम-से-कम हफ्ते में एक दिन तो वह मांस जरूर छोड़े।

निरामिष, शाकाहारी भोजन पर्यावरण की नजर से भी सामिष, मांसाहार के मुकाबले बीस ही ठहरता है, उन्नीस नहीं। सारे वैज्ञानिक और खूब ऊंची संस्थाओं की रिपोर्ट– सब इसी तरफ तो इशारा कर रही हैं।

अब हमारे सामिष मित्रों को इससे ज्यादा क्या दलील दी जाए। आप बताएं।

लेखिका खेती और बीजों के क्षेत्र में सक्रिय
जीन कैंपेन नामक संस्था के साथ काम कर रही हैं।

*

छिटमहल : छिटके पड़े नागरिक

सत्यब्रत रायबर्धन

स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर संकल्प तो लिया था कि हम हर आंख के आंसू पोछ देंगे। किसी भी देश के इतिहास में लंबे संकटों, गुलामी के दौर के बाद आए ऐसे क्षण सिर्फ नेतृत्व को ही नहीं, आम लोगों को भी भाव विभोर कर जाते हैं। इसलिए असली परीक्षा तो उन क्षणों के बीत जाने के बाद आती है।

दुर्भाग्य से हम अनेक अर्थों में उस परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो पाए हैं। आज मैं आपके सामने अपने देश की एक बहुत ही विचित्र समस्या रखना चाहता हूं। बहुत से पढ़े लिखे, सोचने समझने वाले लोगों को यह पता भी नहीं होगा कि छिटमहल जैसी विचित्र घटनाएं न सिर्फ घटी हैं, बल्कि विवादों को सुलझाने की सारी समझदार कोशिशों के बाद भी आज तक सुलझ नहीं पाई हैं।

छिटमहल बांग्ला भाषा से निकला शब्द है। छिट का मतलब है टुकड़ा। लेकिन ऐसा टुकड़ा जो पूर्ण का अंश अवश्य हो परंतु पूर्ण से जुड़ा न हो। यानी पूर्ण से अलग छिटका हुआ टुकड़ा। और महल यानी ऐसी भूमि जिससे राजस्व बटोरा जाता है। आज हम जिस समस्या की बात कर रहे हैं, उस प्रसंग में छिटमहल का अर्थ हुआ भूमि का ऐसा टुकड़ा जो अपने पूर्ण से दूर छिटक गया है। बहुत कम लोगों को इस बात का अंदाज है कि भारत और पाकिस्तान और अब बांग्ला देश में दोनों पूर्ण देशों के अंश छिटके पड़े हैं। आज की तारीख में 106 ऐसे भारतीय छिटमहल हैं और 92 हैं बांग्ला देश के। दुख की बात यह है कि दोनों देशों में परस्पर छिटके पड़े ये टुकड़े भी एक स्वभाव के नहीं हैं– इसमें भी पहली और दूसरी श्रेणियां हैं। इस कारण छिटमहल का उलझा चित्र और उलझ जाता है।

बांग्ला देश के भीतर कुल 106 भारतीय मोहल्ले हैं। इनमें 102 पहले दर्जे के हैं। भारत में 71 पहले दर्जे के छिटमहल बांग्ला देश के हैं। और दूसरे दर्जे के 21 हैं। इन सबकी आबादी लगभग एक लाख पचास हजार हैं। दोनों देशों में किसी मजबूरी से बने और बसे ये छिटमहल अपने पूर्ण अंश से दूर हैं लेकिन इनका राजस्व जहां है, वहां न जाकर दूर बसे पूर्ण अंश को जाता है। इसी तरह आजाद होते हुए भी ये टुकड़े गुलामी जैसी हालत में हैं। इनके चारों तरफ की भूमि उनका पूर्ण न होकर दूसरा पूर्ण है। इस तरह भारत की भूमि पर बांग्लादेश की भूमि है और इसी तरह बांग्लादेश की सीमा के पार भारत के मुहल्ले हैं। फिर दिमाग चकरा जाए ऐसे विभाजन के भी विभाजन हैं। जिस समस्या को हम ठीक से समझ भी नहीं पाएंगे, उसे न जाने लोग कब से जी रहे हैं।

बहुत कम लोगों को इस बात का अंदाज है कि भारत और पाकिस्तान और अब बांग्ला देश में दोनों पूर्ण देशों के अंश छिटके पड़े हैं। आज की तारीख में 106 ऐसे भारतीय छिट महल हैं और 92 हैं बांग्ला देश के। दुख की बात यह है कि दोनों देशों में परस्पर छिटके पड़े ये टुकड़े भी एक स्वभाव के नहीं हैं– इसमें भी पहली और दूसरी श्रेणियां है। इस कारण छिटमहल का उलझा चित्र और उलझ जाता है।

छिटमहल का दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास सन् 1657 से प्रारंभ होता है। तब यहां शाहजहां का राज्य था और कूच बिहार के राजा थे प्राण नारायण। इस राजा ने उस राजा को हरा कर उसकी कुछ भूमि के टुकड़े जीत लिए थे। यह भी बड़ी विचित्र बात है कि कूच बिहार के कब्जे में आई ऐसी भूमि चारों तरफ से मुगल राज्य से घिरी हुई थी। इसी तरह फिर कभी मुगलों ने कूच बिहार पर हमला किया और उसके कुछ हिस्से जीत लिए। और ये भी चारों तरफ से कूच बिहार से घिरे थे। जीत और हार के ऐसे अटपटे किस्से कोई भी सभ्य व्यक्ति या समाज समझ नहीं सकता। ऐसा भी बताया जाता है कि कूच बिहार के महाराज और रंगपुर के नवाब शतरंज खेला करते थे और इस दौरान अपने गांवों को दांव पर लगा देते थे। और इस तरह हारा हुआ गांव जरूरी नहीं कि अपने पूर्ण से जुड़ा रहे। फिर यह छिटक कर दूसरे पूर्ण में विलीन हो जाता था।

फिर आई आजादी और उसी के साथ हुआ बंटवारा। कूच बिहार मिला भारत में लेकिन दूसरी तरफ रंगपुर बना पाकिस्तान का हिस्सा क्योंकि वहां के नवाब ने पाकिस्तान जाना तय किया। लेकिन रंगपुर था भारतीय सीमा में। इस

तरह इन दोनों जगह के नागरिक जिस देश के हिस्से आए, उनके छिटमहल वहां के नहीं माने गए। सचमुच ये अपने आंगन में पराए बन गए।

एक आंकड़ा बताता है कि बांग्लादेश में छिटके हुए भारत के ऐसे टुकड़े कोई इक्कीस हजार एकड़ के हैं। और भारत में बांग्लादेश के ऐसे टुकड़े का नाप कोई बारह हजार एकड़ माना जाता है।

हम सब जानते हैं कि एक ही इलाके में अपने ही लोगों के साथ रहना कई बार कैसी विकट समस्या बन जाता है। कल्पना कीजिए पूर्ण के उस अंश की जो दूसरे पूर्ण के बीच में रहता हो। बांग्लादेश की पुलिस और प्रशासन वहां ऐसे भारतीय छिटमहल की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार नहीं है और इसी तरह हम भी कह देते हैं कि कूच बिहार के हिस्से में बांग्लादेशी छिटमहल को सुरक्षा देना हमारा काम नहीं। सोचिए दोनों तरफ के लोगों पर क्या बीतती होगी।

हम सब जानते हैं कि एक ही इलाके में अपने ही लोगों के साथ रहना कई बार कैसी विकट समस्या बन जाता है। कल्पना कीजिए पूर्ण के उस अंश की जो दूसरे पूर्ण के बीच में रहता हो। बांग्लादेश की पुलिस और प्रशासन वहां ऐसे भारतीय छिटमहल की सुरक्षा के लिए जिम्मेदार नहीं है और इसी तरह हम भी कह देते हैं कि कूच बिहार के हिस्से में बांग्लादेशी छिटमहल को सुरक्षा देना हमारा काम नहीं। सोचिए दोनों तरफ के लोगों पर क्या बीतती होगी।

इसमें धर्मों की बात भी भूल जाइए। दो देशों की विभिन्न नागरिकताएं भी टकरा जाती हैं।

दोनों तरफ हुई चूकों और गलतियों की कमी नहीं। बताया जाता है कि सन् 1950 के बाद से अब के बांग्लादेश में बसे भारतीय छिटमहल में जनसंख्या की गणना नहीं हो पाई है। ऑक्सफेम इंडिया नामक एक संस्था ने अपने एक सर्वे में यह भी बताया है कि कोई आठ हजार लोग भारतीय छिटमहल से जबरन धकेल दिए गए हैं। और क्या पता हम भारत के लोग इन्हें किसी प्रमाण के अभाव में बांग्लादेशी ही मानते रहें।

दोनों तरफ छिटमहल के निवासी ज्यादातर खेती-बाड़ी करते हैं। बटवारे से पहले दोनों तरफ के लोगों को दोनों तरफ के बाजारों में आने जाने की छूट थी। भारत का उदाहरण लें– अब भारतीय छिटमहल के लोगों के लिए भारत की मंडियां अगम्य हैं। लेकिन पास बसी बांग्लादेशी अनाज मंडी उसे विजातीय की तरह ही देखती है, इसलिए उनका सामान खरीदा नहीं जाता। तब किसी

बिचौलिए को कम कीमत पर अनाज सौंप देने के अलावा उनके पास कोई चारा नहीं। कभी बिक्री की नौबत ही नहीं आती– पकी पसलें लूट ली जाती हैं। शिकायत किसके पास करें। दोनों तरफ के छिटमहल में बसे लोग यदि अपना अंश छोड़कर पूर्ण में मिलें तो पूर्ण उसको अपना नहीं मानता। यह तो दूर की बात। उसे शरणार्थी का दर्जा भी नहीं मिल पाता। तब कानून कहता है कि ये तो यहीं के थे और फिर यहीं आ गए, फिर कैसे शरणार्थी। इन लोगों को आंतरिक रूप से विस्थापित हुए लोगों का दर्जा भी नहीं दिया जा सकता। कुल मिलाकर ये लोग कहीं के नहीं हैं।

1971 में बांग्लादेश स्वतंत्र अस्तित्व में आया। तब श्रीमती इंदिरा गांधी और मुजीबुर्रहमान के बीच हुई वार्ता में सन् अट्ठावन के प्रस्ताव का जिक्र हुआ। लेकिन संसद नहीं मानी। भूमि की अदला बदली की जा सकती है, लोगों की नहीं। दुनिया के सबसे बड़े माने गए लोकतंत्र में अपने लोगों से ज्यादा कीमत जमीन की आंकी गई।

ऐसा भी नहीं कि देश के उच्च नेतृत्व के सामने यह समस्या कभी आई ही न हो। एक दौर में इन्हें दोहरी नागरिकता देने की बात भी चली थी। लेकिन तब दोनों देशों ने मजबूरी बताई थी कि दोहरी नागरिकता का उनके देश में कोई कानून नहीं है! सन् 1958 में नेहरूजी के समय दोनों तरफ के छिटमहलों के आदान-प्रदान का प्रस्ताव आया था। लेकिन वह योजना सफल नहीं हो पाई। फिर 1971 में बांग्लादेश स्वतंत्र अस्तित्व में आया। तब श्रीमती इंदिरा गांधी और मुजीबुर्रहमान के बीच हुई वार्ता में सन् अट्ठावन के प्रस्ताव का जिक्र हुआ। लेकिन संसद नहीं मानी। कहा गया कि भूमि की अदला बदली तो की जा सकती है, लोगों की नहीं।

दुनिया के सबसे बड़े माने गए लोकतंत्र में अपने लोगों से ज्यादा कीमत जमीन की आंकी जा रही है।

तब के पूर्वी बंगाल में जन्में और फिर कलकत्ता आ गए श्री सत्यब्रत रायबर्धन ने वर्षों 'सेल' के लेखा विभाग में काम किया। फिर असली जिंदगी की शुरुआत सेवा निवृत्ति के बाद समाज, पर्यावरण और भूगर्भ जैसे विषयों में रुचि लेकर प्रारंभ की। आज अस्सी वर्ष की अवस्था में एक पिता की तरह साइंस कम्यूनिकेटर्स फोरम की देख-भाल करते हैं।

*

घर लौटने के लिए

जुनै माव्ल्यानोव

सौभाग्य से दूसरे के बाद तीसरा तो नहीं हुआ है। लेकिन छोटे-छोटे युद्धों की कोई गिनती नहीं है आज। फिलीस्तीन, इजराइल, ईराक, सीरिया, लीबिया, मिस्र, अफगानिस्तान। युद्ध पड़ौसियों के, दुश्मनों के तो फिर गृहयुद्धों की भी कमी नहीं। विभिन्न संप्रदायों और राजनैतिक विषयों के कारण उभरे संघर्षों को भी उभरते देख रहे हैं। आज इन सब संघर्षों, युद्धों में मारे गए लोगों की गिनती तो अलग, कोई पांच से छह करोड़ लोग बेघरबार हुए हैं, गुम गए हैं। परिवार के बचे अन्य कुछ करोड़ लोग उनके लौट आने का रास्ता देख रहे हैं।

इन सब युद्धों का देशों पर, समाजों पर और सबसे ऊपर परिवार पर क्या असर पड़ता है– इसे बता रहे हैं किर्गीजस्तान के साहित्यकार श्री जुनै माव्ल्यानोव। सन् 1923 में जन्मे श्री जुनै स्वयं दूसरे महायुद्ध में पांच वर्ष तक किसी मोर्चे पर लड़ते रहे थे। वे एक कवि की तरह ज्यादा जाने गए। सन् 1961 में लिखी गई 'घर लौटने के लिए' कहानी उन सब लोगों की आज भी याद दिलाती है।

मैं लाम से लौटकर पहले ही की तरह अपने उसी स्कूल में पढ़ाने लगा था, जो उस समय तक हमारे पांच गांवों के लिए एक ही था। स्कूल में रहने के लिए कोई जगह नहीं थी। इसलिए मुझे रोजाना पांच किलोमीटर जाना और आना होता था। मौसम चाहे जैसा भी हो, गर्मी या सर्दी, बारिश या बर्फ। घोड़े की पीठ पर बैठकर पांच किलोमीटर दूर स्कूल और फिर वापसी में पांच किलोमीटर घर।

लड़ाई के बाद के प्रारंभिक वर्षों में देश के सामने अन्य बहुत सी समस्याएं उठ खड़ी हुई थीं, जिनके कारण उस समय तक हमारे जिले में किसी का भी ध्यान सड़क बनाने की ओर नहीं गया था– सिवाय...

मैं जैसे ही स्कूल के लिए निकलता, बहुधा एक आदमी मुझे गांव के पास वाली सड़क पर काम करता मिलता। उसे इस काम के लिए किसी ने नियुक्त नहीं किया था और न उसे इस काम के बदले कोई उजरत ही मिलने वाली थी। यह सारा काम वह अपने आप करने लगा था।

उमर साठ से अधिक। सिर पर बाल पूरी तरह धवल। मानो चंद्रमा अपनी चांदनी से उसका सिर धो गया हो। चेहरा घनी जालीदार झुर्रियों से बना। घनी काली भौंहों के बीच चमकती उसकी आंखें बहुत आकर्षक लगती थीं, मानो वह साठ का न होकर उसके केवल एक तिहाई का हो...

वह सदा एक ही कपड़ों में मिलता था। सफेद सूती कमीज के ऊपर एक मटमैली सदरी और उसके ऊपर एक पुरानी जाकेट, जिस पर वर्षों पुरानी फीकी सी पड़ गई चमड़े की एक पेटी बंधी रहती थी। इससे लटकती कटार की म्यान पर पीतल की चमचमाती फुल्लियां। उसके जूते बहुत पुराने हो चले थे और उन पर कपड़े की चिंदी लगी हुई थी। सिर पर काले किनारों वाली एक टोपी रहती थी, जिसका एक सिरा सदा ऊपर की ओर मुड़ा रहता था। नाम था उसका हसनकुल।

वह सदा एक ही कपड़ों में मिलता था। सफेद सूती कमीज के ऊपर एक मटमैली सदरी और उसके ऊपर एक पुरानी जाकेट, जिस पर वर्षों पुरानी फीकी सी पड़ गई चमड़े की एक पेटी बंधी रहती थी। इससे लटकती कटार की म्यान पर पीतल की चमचमाती फुल्लियां। उसके जूते बहुत पुराने हो चले थे और उन पर कपड़े की चिंदी लगी हुई थी। सिर पर काले किनारों वाली एक टोपी रहती थी, जिसका एक सिरा सदा ऊपर की ओर मुड़ा रहता था।

नाम था उसका हसनकुल।

मैं उसे लड़ाई के भी बहुत पहले अपने बचपन से ही जानता था। उसके बेटे अलनाजर और कुलनाजर के साथ-साथ मैं एक ही स्कूल में चार वर्ष तक पढ़ा था। वे स्कूल के ही पास रहते थे। हसनकुल दिन में दरबानी करता और रात में चौकीदारी। मुझे याद है कि हम बच्चे तब उसके पुत्रों से डाह किया करते थे, क्योंकि वे स्कूल के निकट ही एक कोठरी में रहते थे, जबकि हमें पांच किलोमीटर पैदल चलकर स्कूल आना होता था।

अलनाजर और कुलनाजर दोनों ही खूब अच्छे बच्चे थे– एकदम मलूक। हू-ब-हू अपने पिता की तरह। उनकी आंखें और गहरी काली भौंहें देखकर कोई भी एकदम जान लेता कि वे किसके बेटे हैं।

उसके उन दोनों लड़कों का क्या हुआ? यह तो मुझे पता था कि वे पहले ही दिन से लड़ाई में शामिल हुए थे और बाद में पनफिलेव डिवीजन में थे, किंतु पूछताछ का कोई सुयोग मेरे हाथ नहीं लग रहा था और किसी अशोभन स्थिति का सामना करने को मैं तैयार नहीं था। मैंने सोच रखा था कि स्थितियां सहज-स्वाभविक रूप से उजागर होने तक मुझे प्रतीक्षा करना चाहिए।

मैं उसे लड़ाई के भी बहुत पहले अपने बचपन से ही जानता था। उसके बेटे अलनाजर और कुलनाजर के साथ-साथ मैं एक ही स्कूल में चार वर्ष तक पढ़ा था। वे स्कूल के ही पास रहते थे। हसनकुल दिन में दरबानी करता और रात में चौकीदारी। मुझे याद है कि हम बच्चे तब उसके पुत्रों से डाह किया करते थे, क्योंकि वे स्कूल के निकट ही एक कोठरी में रहते थे, जबकि हमें पांच किलोमीटर पैदल चलकर स्कूल आना होता था।

हसनकुल अभी भी स्कूल में ही रहता है। रात में पहरेदारी करता और पौ फटने पर जब कि अभी ओस ही पड़ रही होती, वह सारा आंगन बुहार कर फुलवारी सींच चुका होता। लगभग हरेक वह काम जिसका तनिक भी संबंध हसनकुल के काम से होता, चाहे वह वृक्षों के नीचे बैठने का स्थान हो या नदी के आर-पार बना पुल, सदैव स्वच्छ बना रहता था। हम अध्यापक बहुधा आश्चर्यचकित रह जाते कि जीर्ण सीढ़ियों की मरम्मत, बैठने का स्थान सुधारने अथवा रास्ते पर साफ बालू बिखराने का समय और शक्ति वह पता कहां से है!

फिर भी हर सुबह जैसे ही मैं स्कूल की राह पर निकलता मुझे वह अपने बूढ़े चुंधे गधे की काठी पर फावड़ा लटकाए सड़क सुधारने जाता हुआ मिलता। मुझे देखते ही वह अनिच्छापूर्वक ही सही, अपने गधे को चट्टान की ओर करके शालीनता से मेरे लिए रास्ता छोड़कर खड़ा हो जाता।

'अस्सलाम आलेकुम बड़े मियां', मैं ऊंची आवाज में उसका अभिवादन करता।

'आलेकुम अस्सलाम', वह मुश्किल से सुनी जा सकने वाली आवाज में उत्तर देता। घर लौटते हुए जब मैं उसे फिर मिलता तो कभी वह सड़क के दूसरे छोर पर काम करता दीखता, तो कभी फावड़े से नाला साफ करते

मिलता या कहीं सड़क समतल करने के लिए मिट्टी के ढेलों को फोड़ता रहता।

हसनकुल को जैसे ही यह भान होता कि भारी वर्षा से पहाड़ों से रिस-रिस कर कीचड़, गाद नाली में आकर अंट गई होगी, वह सुबह-सकारे ही फावड़ा संभाल अपने गधे की पीठ पर काठी लाद कर निकल पड़ता– 'क्या पता कहीं सड़क बह तो नहीं गई?'

एक दिन स्कूल से लौटते हुए मुझे वह नित्य की भांति ही अपना सामान्य सा काम करता मिला। वही हमेशा जैसे ही कपड़े पहने। हां इस बार उसके जूते सड़क की एक ओर घास पर टोपी के पास ही रखे हुए थे। वह नंगे पैर चल रहा था। सूर्य में उष्णता जैसे थी ही नहीं। यह वसंत का एक सुहावना दिन था और इस कदर शांत था कि नीचे खाई में गिरते नदी के जल का कलकल साफ सुनाई दे रहा था।

मुझे देखकर उसने अपना सिर ऊपर उठाया और फिर सीधे खड़े होकर अपनी सफेद कमीज के एक छोर से उसने धीरे-धीरे अपने झुर्रीदार चेहरे से पसीना पोंछा।

'खैरियत तो है, बड़े मियां,' मैंने सदा की भांति उसका अभिवादन किया।

सहज मंथरगति से चलकर सड़क के अध बीच में आकर वह अपने फावड़े पर झुका और मुलायमियत से बोला, "खुदा तुम्हें सलामत रखे मेरे बच्चे" उसकी इसी भंगिमा से मुझे लगा कि जैसे वह आज मुझसे बात करना चाहता है।

यह अपूर्व था। साधारणतः बुजुर्ग होने के नाते पहले मैं ही उसका अभिवादन करता और फिर वह बिना अपना काम रोके मुझे सलामती कह देता और बस मामला खत्म हो जाता था। मैंने लगाम खींची और अनुत्साह से ही सही, किंतु स्वयं बातचीत शुरू की। पूछा इस उम्र में वह इतना कठिन परिश्रम क्यों करता रहता है?

उसने मुझे घूरा। फिर चतुराई से खिल उठा। कुछ मजाकिया अंदाज में उसने कहाः मैं यह सब इसलिए कर रहा रहूं जिससे तुम्हारे घोड़े इस ऊबड़-खाबड़ सड़क पर लड़खड़ाकर तुम्हें गिरा न दें, इसलिए कि जो पैदल चलते हैं उन्हें ठोकर न लगे, उनके पांवों में मोच न आए और इसलिए भी कि गाड़ियों के पहिए न निकल जाएं। मेरे बच्चे... देख रहे हो मैंने सड़क के गड्ढों को भर दिया है और नालों को भी साफ कर दिया है, ताकि भारी वर्षा भी सड़क को बहाकर नहीं ले जा सके। यह सब काम कठिन कहां है और

फिर मैं इतना बूढ़ा भी तो नहीं हूं। यह कहते-कहते वह हंस पड़ा।

एक छोर पर चलते-चलते उसने चुपचाप नाले से घास लगी मिट्टी का एक बड़ा सा टुकड़ा काटा और फिर वैसी ही चुप्पी के साथ सड़क पर हो गए एक गड्ढे में उसे भर दिया। उसके गांठदार हाथ वस्तुतः अपने काम में बहुत सधे हुए लगते थे।

क्या तुम बहुत जल्दी में हो? बिना मेरी ओर देखे अपना काम करते-करते उसने पूछा। नहीं तो, पढ़ाना खत्म करके मैं घर ही तो जा रहा हूं, मैंने कहा और मुझे ऐसा लगा कि शायद हसनकुल सुनना भी यही चाहता था।

'तब ठीक है।'

मैं जानता था, कुछ लोग सड़क सुधारने के उसके अभियान को उसके बुढ़ापे की सनक समझते थे। कुछ दूसरे उस पर तरस-सा दिखाते हुए समझते थे कि वह अपना समय व्यर्थ गंवा रहा है। कोई-कोई तो उसके मुंह पर ही शब्दों की एक भारी-भरकम धौल जमाते हुए कह देते– "देखो-देखो एक पैर कब्र में लटका हुआ है, पर अभी भी बचपना नहीं गया है। इस उम्र में बूढ़े खुदा की तरफ लौ लगाते हैं, पर यह मूर्ख फावड़ा उठाए सड़क पर थिरकता फिर रहा है।"

मैं जानता था, कुछ लोग सड़क सुधारने के उसके अभियान को उसके बुढ़ापे की सनक समझते थे। कुछ दूसरे उस पर तरस-सा दिखाते हुए समझते थे कि वह अपना समय व्यर्थ गंवा रहा है। कोई-कोई तो उसके मुंह पर ही शब्दों की एक भारी-भरकम धौल जमाते हुए कह देते– "देखो-देखो एक पैर कब्र में लटका हुआ है, पर अभी भी बचपना नहीं गया है। इस उम्र में बूढ़े खुदा की तरफ लौ लगाते हैं, पर यह मूर्ख फावड़ा उठाए सड़क पर थिरकता फिर रहा है।"

सचमुच ऐसा ही लगता था कि वह फावड़ा उठाए घूम-घूमकर सख्त परिश्रम से गड्ढे भरने में अपनी शक्ति और समय व्यर्थ ही नष्ट कर रहा है। जब अगली बारिश के साथ बह आए पानी से कच्ची सड़क फिर टूट जाएगी तो फिर से बूढ़े हसनकुल को अपना फावड़ा संभालना होगा, फिर गड्ढे भरने पड़ेंगे– दिन के बाद दिन, महीने के बाद महीने इसी तरह यही सब होता जाएगा और जब बर्फ गिरने लगेगी तो सारे कूबड़ और गड्ढे सफेद चादर से ढंक जाएंगे। कुछ दिन के लिए ही सही।

बूढ़े ने मिट्टी का एक बड़ा डला उठाकर गड्ढे में भरा, फावड़े से उस पर मजबूती से थापी दी। वह फिर आहिस्ता-आहिस्ता चलकर मेरे निकट आया।

"अच्छा बेटे जैकन तुम, मेरा ख्याल है तुम भी मुझे गावदी, गंवार समझते होगे, है न?" आंखें मिचमिचाते हुए उसने मुझसे पूछा।

मुझे धक्का-सा लगा, वस्तुतः मुझे ऐसी उम्मीद कतई नहीं थी।

"न-न चचा, बिलकुल नहीं, आप तो सचमुच बहुत अच्छा काम कर रहे हैं, इसकी तो बहुत जरूरत भी है।"

"अच्छा बेटे जैकन तुम, मेरा ख्याल है तुम भी मुझे गावदी, गंवार समझते होगे, है न?" आंखें मिचमिचाते हुए उसने मुझसे पूछा। मुझे धक्का-सा लगा, वस्तुतः मुझे ऐसी उम्मीद कतई नहीं थी।"न-न चचा, बिलकुल नहीं, आप तो सचमुच बहुत अच्छा काम कर रहे हैं, इसकी तो बहुत जरूरत भी है।" "तो तुम इसका महत्व समझ रहे हो बेटे, मुझसे सहमत हो... मैं ठीक कह रहा हूं न?"

"तो तुम इसका महत्व समझ रहे हो बेटे, मुझसे सहमत हो... मैं ठीक कर रहा हूं न?" फावड़े के हत्थे पर अपनी ठुड्डी टिकाकर बूढ़ा गंभीरता से बोला। उसकी आंखें में घिरी उदासी देखकर मेरे हृदय में एक हूक-सी उठी।

"हां बेटे, लोग शायद सही हैं। संसार त्याग के पहले व्यक्ति को कुछ अच्छा काम जरूर कर जाना चाहिए, जिससे दुष्टजन उसकी कीर्ति पर कीचड़ नहीं उछाल सकें और सहृदय उसे अच्छे शब्दों में याद करते रहें।"

बूढ़े हसनकुल ने एक गहरी सांस ली और सड़क पर दोनों दिशाओं में दूर-दूर तक इस आश्वस्ति के लिए निहारा कि कहीं कोई आ तो नहीं रहा था।

"किंतु बच्चे सच्ची बात यह नहीं है। मैं यहां इसलिए काम नहीं कर रहा हूं कि मुझे इस बात की चिंता है कि लोग मेरे बारे में मेरे मर जाने के बाद क्या कहेंगे। अच्छे शब्द सुनने की लालसा केवल जीवित व्यक्ति को ही हो सकती है।"

हसनकुल कुछ देर चुप रहा। उसका उदास चेहरा और आंखों में झलकते नैराश्य के कारण मैं प्रतीक्षा करता रहा था– कि आगे वह क्या कहेगा?

"उस ऊंची सड़क से होकर मेरा कुलनाजर मोर्चे पर गया।" सड़क पर एक उचाट निगाह डालकर उसने फावड़े से भूमि पर चोट करते हुए कहा, "और इसी पर होकर मेरा अलनाजर चला गया।"

"तुम मोर्चे से वापस आ गए, गांव में हरेक आदमी जानता है, कौन मारा गया और कौन जीवित बचा है। लेकिन मेरे ये बच्चे खो गए। हां, जो कागजात सेना ने मुझे भेजे, उसमें यही लिखा है– गुम हो गए!"

बूढ़े की आवाज थरथराई, उसके हाथ उसकी जेबों में कुछ टटोलते रहे और फिर कुछ नहीं पाकर निराशा से जेबों की तह में जाकर गड़ गए।

"तुम्हारे पास कुछ धूम्रपान के लिए होगा, है न?"

"हां, है, अवश्य है, लीजिए...।"

मैं घोड़े से उतरा और अपनी सिगरेट हसनकुल के सामने की। उसने सिगरेट सुलगाई और बीच सड़क में फावड़ा रखकर बैठ गया। घोड़े को घास से ढके किनारे पर चरने के लिए छोड़कर मैं भी उससे कुछ परे हटकर नीचे ही बैठ गया। मैं भी सिगरेट पीने लगा।

कुछ देर तक हम दोनों ही चुपचाप धुआं उड़ाते रहे। सूरज अब अपनी गरमाहट सहित घाटी के ऊपर छाया हुआ था। आकाश में बाज उड़ान भर रहे थे। धरती पर पूरी शांति थी, ऐसी शांति कि घोड़े द्वारा घास चबाए जाने की आवाज तक साफ आ रही थी।

"तुम मोर्चे से वापस आ गए, गांव में हरेक आदमी जानता है, कौन मारा गया और कौन जीवित बचा है। लेकिन मेरे ये बच्चे खो गए। हां, जो कागजात सेना ने मुझे भेजे, उसमें यही लिखा है– गुम हो गए!" बूढ़े की आवाज थरथराई, उसके हाथ उसकी जेबों में कुछ टटोलते रहे और फिर कुछ नहीं पाकर निराशा से जेबों की तह में जाकर गड़ गए।

"मुझे उन कागजों पर विश्वास नहीं है। "हसनकुल बोला," वे खो नहीं सकते। इस धरती पर न जाने कितनी सड़कें हैं, लेकिन घर पहुंचने के लिए भी तो एक होती है। वे घर जरूर आएंगे। देख लेना तुम मेरे बेटे वापस आएंगे। एक भेड़ तक अपने घर का रास्ता खोज लेती है, वे आएंगे, इसी सड़क से आएंगे..."

"और इसलिए मैंने यह सड़क सुधारी है, इसे समतल किया है कि मेरे बेटों के घोड़े ठोकर न खाएं। घर की ओर आते हुए घोड़े को ठोकर लगना एक अपशकुन होता है... सच समझना, जब मैं बच्चा था, तब भी मुझे अपने घोड़े का ठोकर खा जाना बिलकुल नहीं भाता था। तब मेरे दिल में जाने क्या हो जाता कि आंसू फूट पड़ते थे।"

हसनकुल कुछ देर चुप रहा, फिर बोला, "इस सड़क पर कई बार मेरी भेंट सैनिकों से हो जाती है। मैं हमेशा उनसे यही पूछता हूं, क्या उन्होंने कहीं मेरे बेटों को देखा है, किंतु हमेशा मुझे यही उत्तर मिलता रहा है, नहीं हमने उन्हें नहीं देखा।

"...और अब मैं तुमसे पूछता हूं। तुम भी तो मोर्चे पर थे। तुम्हारा क्या ख्याल है, वे वापस लौटेंगे न?" मेरी आंखों में आंखें गड़ाकर हसनकुल बोला, "तुम मेरे अलनाजर और कुलनाजर को जानते हो, स्कूल में तुम उनके साथ ही तो थे, याद है...?" उसने अपनी पतली भूरी दाढ़ी पर हाथ फिराते हुए उदास-उदास आंखों से मुझे निहारा था।

या तो उसने मेरी दुविधा को पहचान लिया था या फिर उसे लगा कि कुछ और भी बताना चाहिए। इसलिए अत्यंत विनम्रतापूर्वक वह बोला, "मुझे अक्सर कुलनाजर के पत्र तो मिलते रहे थे, पर छोटा तो जैसे एकदम ही गायब हो गया था। उसके संबंध में तो एक शब्द तक नहीं सुना। वैसे लोग बताते हैं कि अभी भी बहुतेरे हैं जो घर नहीं लौटे हैं। क्या पता मेरे बच्चे भी कहीं अस्पताल में हों। कुलनाजर एक महीना लड़ाई से दूर रहा, उसे अस्पताल भेजा गया था, जहां से लगभग हर दिन ही वह मुझे पत्र लिखता रहा था और फिर वहां से एक दिन उसने मुझे सूचित किया था... "मैं अब फिर से सही सलामत हूं अब्बा।" उसने अधिक नहीं लिखा था, किंतु बार-बार लिखा था और मुझ बूढ़े को तसल्ली के लिए यही पर्याप्त था, फिर से सही सलामत हूं। यानी वह लड़ रहा था, आक्रमक जर्मनों पर आफत बनकर टूट रहा था और जब वह उन्हें ध्वस्त कर देगा तो घर आ जाएगा...। किंतु वह नहीं आया..."

बूढ़े की सिगरेट जाने कब की बुझ चुकी थी, लेकिन उस ओर उसका ध्यान काफी देर बाद गया। धीमे से उसने राख झाड़ी। फिर मेरी ओर देखे बिना ही बड़ी आजिजी से बोला, "लड़ाई खत्म हुए दो बरस होने को हैं, पर अभी तक उनकी कोई खबर नहीं मिली है। कभी-कभी मुझे रात-रात भर नींद नहीं आती है। अब तो दिल डूबने लगता है। क्या पता वे जब आएं तो मैं ही नहीं होऊं। हां, तुम बताओ वे आएंगे? तुम क्या सोचते हो?"

हसनकुल ने फिर मेरी आंखों में झांका। मैं क्या कह सकता था?

"लड़ाई के दिनों में क्या कुछ नहीं होता! सब कुछ हो सकता है। वे आएंगे, यकीन रखो वे जरूर आएंगे," मैंने उसे दिलासा देते हुए कहा।

लेकिन शायद मेरी आवाज ने ही मेरा साथ नहीं दिया था। हो सकता है कि मेरी आंखें भरम नहीं रख सकीं। अपने सूजे हुए पैरों से, मुश्किल से उठ बूढ़ा दूसरी ओर घूमा। चुपचाप अपना फावड़ा उठाकर सड़क पर फिर से काम करने लगा था।

हिन्दी में पुनर्सृजनः धर्मपाल अकेला

*

पोथी पढ़ि पढ़ि

खुशबू का शिलालेख

प्रभाष जोशी

निटाया मध्य प्रदेश के होशंगाबाद-इटारसी सड़क के लगभग बीच बाएं मुड़कर तीन किलोमीटर अंदर पड़ता है। गांव के नाते भी कोई नामी गांव नहीं है। लेकिन वहीं हर साल अट्ठाईस-उनतीस मार्च को भवानी मित्र मिलन होता है। इसे करते हैं भवानी भाई के मित्र बनवारीलाल चौधरी। यह नाम भी ऐसा नहीं है जो आपने सुना होगा या जिसके सुने जाने की आपको याद हो। जिस तरह निटाया आसपास के गांवों या वहां से बाहर आकर रहने वालों को मालूम है, उसी तरह बनवारीलाल चौधरी को सर्वोदय और ग्राम विकास में रुचि लेने वाले लोग जानते हैं। और लिखूं कि प्रेम और आदर से बल्कि उससे भी ज्यादा सखा-भाव से जानते हैं तो न कंजूसी होगी, न लफ्फाजी होगी।

अपने को लगातार कोशिश करके मामूली बनाने वाले लोग अक्सर बहुत गैरमामूली हो जाते हैं। कीर्ति और प्रसिद्धि में ही नहीं, खुद अपनी बनावट और अपने बरताव में भी। जरूरी नहीं कि असाधारण होकर वे बड़े या महान होने के अर्थ में विशिष्ट हो जाते हैं। कई बार उनका गैरमामूली होना अंग्रेजी के एबनॉर्मल अर्थ में मामूली से कमतर हो जाना भी होता है। असाधारण या विशिष्ट होने की इच्छा हर मनुष्य में होती है। विशिष्ट होने की इच्छा साधारण और मामूली बने रहने से ज्यादा स्वाभाविक और प्रेरक है। इसलिए सब कुछ करते और मौके पाते हुए भी जो मामूली रह जाए, वह सचमुच बहुत गैरमामूली आदमी होना चाहिए। सहज समाधि सचमुच बड़ी कठिन है।

बनवारीलाल चौधरी मामूली आदमी हैं और निटाया में सहज समाधि में

रहते हैं। निटाया उनका अपना गांव नहीं है। वे पड़ोस के रैसलपुर गांव के हैं। निटाया में तो पिछले कोई चालीस साल से इसलिए रहते हैं कि वहां के मालगुजार ने भूदान में वह एक एकड़ जमीन उन्हें दे दी थी। वहां ग्राम सेवा समिति बनाकर उन्होंने वह बना लिया जिसे गांधीय भाषा में ही नहीं, प्रचलित भारतीय अर्थ में भी आश्रम कहा जाएगा। आपके मन में गांव में बने-बसे आश्रम की जैसी कल्पना है, हूबहू वैसा ही। मिट्टी के कच्चे और खपरैली छत के घर जैसे छोटे मकान। कैरियों, अमियों से लदे आम के पेड़ों से ढंके। कहीं बीच में नीम भी छांव कर रहा है। तो कहीं प्रहरियों जैसे ताड़ खड़े हैं। कहीं आंगन में मौलसिरी है। पीपल है। बड़ है। बांस और सफेदे के ऊंचे झुंड हैं जो चारों ओर हरियाले परकोटे की तरह खड़े हैं। अशोक है– आजकल फूला हुआ। आंवला है आजकल लदा हुआ। फूलों के तो कई पेड़-पौधे और बेलें हैं। कई गंधों से मिली वन गंध है, जो वहां जाते ही आपको घेर लेती है।

अपने को लगातार कोशिश करके मामूली बनाने वाले लोग अक्सर बहुत गैरमामूली हो जाते हैं। कीर्ति और प्रसिद्धि में ही नहीं, खुद अपनी बनावट और अपने बरताव में भी। जरूरी नहीं कि असाधारण होकर वे बड़े या महान होने के अर्थ में विशिष्ट हो जाते हैं। कई बार उनका गैरमामूली होना अंग्रेजी के एबनार्मल अर्थ में मामूली से कमतर हो जाना भी होता है।

लेकिन सबसे उजले और शोख रंगों में बोगनबेलिया की बेलें हैं। पत्तों से कहीं ज्यादा सफेद, पीले और लाल फूलों के गुच्छों से लरजती हुई। रंग-बिरंगी पत्तियों के कई प्रजातियों के क्रोटन है।। भगवे फूलों का अपना देसी अड़सुला है, जिसके फूल दक्षिणी महिलाओं के बालों में सफेद फूलों के साथ खिलते और फबते हैं। विदेशी फूल भी हैं लेकिन देसी फूलों में मिलकर ऐसे लगते हैं जैसे यहीं के हों। हरा चंपा है, जिसकी सुगंध मदमस्त कर देती है। राजरानी, चमेली, मोतिया की बेलें हैं। लेकिन क्यारियों में सीधी खड़ी सफेद लिली के तो अनगिनत पौधे हैं। पानी भरा रखने के लिए बने छोटे गोल कुंड में कमल भी लगा हुआ है। गुलाब भी हैं लाल और खूब खिले हुए। यह कोई फूलों का बगीचा नहीं है। लेकिन फूल लगे हुए हैं जैसे लगाए न गए हों और अपने आप उग आए हों।

एक टुकड़े पर सफेद और काले बैंगन लगे हुए हैं। पास के टुकड़े पर सेम की घनी बेल लकड़ियों के ढांचे पर फैली और फलियों से लदी हुई है। और भी फलदायी बेलें घरों और पेड़ों पर छाई हुई हैं। जगह-जगह मनीप्लांट हैं जिनके पत्ते बहुत बड़े और चमकीले हैं और पेड़ों के तनों और शाखाओं को आलिंगन में बांधे

हुए हैं। लेकिन यह देसी-विदेशी पेड़-पौधों, बेलों और झाड़ियों का बॉटेनिकल गार्डन नहीं है। इस इरादे से लगाया भी नहीं गया है। फूलों का उद्यान वह नहीं है। फलों का बाग नहीं है। सब्जियों की बाड़ी नहीं है। वनस्पति विज्ञान का गार्डन भी नहीं है। लेकिन ये सब वहां हैं। आसपास खेती भी है, जहां शानदार देसी गेहूं की फसल लहलहा रही है। जहां ये सब हों उसे क्या कहा जाए मालूम नहीं। लेकिन शायद उसे आश्रम कह सकते हैं।

घर, आंगन, पगडंडी, चबूतरे और क्यारे गोबर-मिट्टी से पुते हुए हैं। उन पर चूने की सफेद किनारियां या गेरू के मांडने से बने हुए हैं। सब कुछ इतना साफ-सुथरा और सादगी से सजा-धजा लगता है कि न तो आप उसे अपनी उपस्थिति से बिगाड़ते हुए लगते हैं, न उससे अपने को दूर रखते हुए और निहारते हुए। आप उसमें एक हो जाते हैं और इच्छा होती है कि सहज ही सज संवर जाएं। किसी को दिखाने के लिए नहीं बल्कि अपने आसपास में मिलकर उसी के अंग हो जाने के लिए। अनुपम ने कहा कि आपने इसे इसके वैभव में नहीं देखा। तब तो कोई सूखा पत्ता भी किसी क्यारी में बेकार पड़ा नहीं मिल सकता था। वैभव से उसका मतलब है– जब बनवारीलालजी स्वस्थ और शरीर से सक्रिय हुआ करते थे।

निटाया का यह आश्रम गृहस्थाश्रम है। इसकी सादगी-सफाई सत्तर पार और लकवे से अपंग बनवारीलाल चौधरी और उनकी पत्नी कांता बहन में है। यह उनके जीने की महज अभिव्यक्ति है– सांस की तरह है, किसी को दिखाने के लिए नहीं, न ऐसे प्रयास से कि सांस तेज चलने लग जाए। यह सहजता बनवारीलाल चौधरी के जीवन का सत्य है। वे नागपुर में कॉलेज में कृषि विज्ञान पढ़ते थे। क्लास के सब लड़के गांधीजी से मिलने सेवाग्राम गए थे। गांधीजी ने पूछा कि गांव की सेवा करोगे तो सभी ने हाथ उठा दिए। बस उन्होंने नहीं उठाया। इसलिए बापू को पूछना पड़ा तो कहा कि पहले मैं पिताजी का कर्ज उतार दूं, फिर आपके काम में लगूंगा।

कुछ साल पहले वे गौहाटी में प्रवास पर थे तब उन्हें लकवा पड़ा। शरीर का दाहिना अंग बेकार हो गया। लेकिन धीरे-धीरे उसमें जीवन का संचार हुआ। अब वे चार खानों की एक बैसाखी पकड़कर चलते हैं। कुर्सी पर बैठे रह सकते हैं। तख्त पर लेटे रह सकते हैं। लेकिन बिना सहारे के खड़े नहीं रह सकते। उलटे हाथ से लिखना सीख लिया है। खुद ज्यादा कुछ कर नहीं सकते, ज्यादातर करवाते हैं। लेकिन उनका पिंड करवाने वाले का नहीं, करने वाले का है। ऐसा आदमी खुद करने लायक न रह जाए तो हुक्म दे देकर सख्ती से सब कुछ अपनी मर्जी के लायक

करवाने का दुराग्रही भी नहीं हो सकता। लेकिन नौकर-चाकर वाले जितने घर-आश्रम मैंने देखे हैं, उनसे तो वह अब भी अपनी सादगी में ज्यादा साफ-सुथरा और देखभाल से पाला-पोसा लगता है। हो सकता है गांधीजी के रहते हुए सेवाग्राम आश्रम ज्यादा साफ-सुथरा रहता होगा। लेकिन वहां मैं उनके राजघाट पहुंचने के पन्द्रह-बीस साल बाद गया। विनोबा के परमधाम पवनार में उनके क्षेत्र संन्यास के बाद मैं जरूर गया था। लेकिन वह इतना रंगबिरंगा हरियाला और घर-गिरस्ती वाला आश्रम नहीं लगता था। उसमें ब्रह्मचारी और संन्यासी जैसी कुछ रुक्ष सादगी और सफाई थी। निटाया का यह आश्रम गृहस्थाश्रम है। इसकी सादगी-सफाई सत्तर पार और लकवे से अपंग बनवारीलाल चौधरी और उनकी पत्नी कांता बहन में है। यह उनके जीने की महज अभिव्यक्ति है– सांस की तरह है, किसी को दिखाने के लिए नहीं, न ऐसे प्रयास से कि सांस तेज चलने लग जाए।

गतिविधियां आश्रम में केंद्रित और संचालित नहीं कीं। प्रयोग और काम गांवों में किए। ग्राम सेवा समिति का बजट इतना कभी बढ़ने नहीं दिया कि तामझाम और बड़ा प्रतिष्ठान खड़ा हो जाए। आश्रम की अचल संपत्ति भी नहीं जुटाई। वैसा आश्रम और वैसी संस्था नहीं बनाई जिसे चलाने के लिए पैसे लाने पड़ें जो बाद में हाथी की तरह दरवाजे पर बंध जाए, जिसे खिलाना ही सबसे बड़ा काम हो जाए।

यह सहजता बनवारीलाल चौधरी के जीवन का सत्य है। जैसे यों ही उन्होंने कहा कि वे नागपुर में कॉलेज में कृषि विज्ञान पढ़ते थे और क्लास के सब लड़के गांधीजी से मिलने सेवाग्राम गए थे। गांधीजी ने पूछा कि गांव की सेवा करोगे तो सभी ने हाथ उठा दिए। बस उन्होंने नहीं उठाया। इसलिए बापू को पूछना पड़ा तो कहा कि पहले मैं पिताजी का कर्ज उतार दूं, फिर आपके काम में लगूंगा। बी.एससी. करके नौकरी में चले गए। फिर ओडीशा सरकार में पहले दर्जे के अफसर हो गए।

नवकृष्ण चौधरी तब वहां मुख्यमंत्री थे और गांधी की जमात के एक सेवक थे। उन्होंने राज्य की ओर से ही बनवारीलालजी को सेवाग्राम नई तालीम के काम में भिजवा दिया। कहिए कि डेपुटेशन पर। जब वे सेवाग्राम गए तो बापू जा चुके थे। डेपुटेशन पर थे इसलिए वेतन ओडीशा सरकार की तरफ से साढ़े सात सौ रुपया मिलता था। लेकिन नई तालीम के काम में लगे सब लोग पचहत्तर रुपए लेते थे। आर्यनायकमजी ने उनका शून्य उड़ा दिया! पन्द्रह रुपए खाने के कटते।

परिवार में वे, कांता बहन और पुत्री तीन प्राणी। तो सब पैसा उसी में चला जाता। बाद में आर्यनायकम जी को पता पड़ा तो उन्होंने कांता बहन को अलग से पंद्रह रुपए देने शुरू किए जो फुटकर खर्च के बाद घर रैसलपुर भेजे जाते।

भूदान आंदोलन शुरू हुआ तो गांधी के रचनात्मक कार्यकर्ताओं की फौज बैरकों से निकली। और जहां जिसे अनुकूल लगा, कार्यकर्ता आश्रम बनाकर समाज परिवर्तन की अहिंसक प्रक्रिया में लग गए। बनवारी लालजी निटाया आए क्योंकि वहां के मालगुजार ने उनकी शर्त पर एक एकड़ जमीन दी। देवेन्द्र भाई कस्तूरबाग्राम के पास माचला गांव में आए जहां मैं पहली बार कॉलेज से ग्राम सेवा के किसी आश्रम केंद्र गया था। पाटणकरजी बैतूल के पास गांव में आए। बनवारीलाल चौधरी की गति खेती में थी और नई तालीम में। भारतीय तरीकों और स्थानीय साधनों से खेती को बेहतर कैसे बनाया जाए, कैसे अपने बीजों की विविधता और प्रजाति को बचाए रख कर उन्नत किया जाए, जैविक खाद, अपना गोधन और गांव-ग्राम स्वराज्य के विराट सपने को साकार करे– इसी के प्रयोग वे निटाया और आसपास के गांवों में करते रहे। गतिविधियां आश्रम में केंद्रित और संचालित नहीं कीं। प्रयोग और काम गांवों में किए। ग्राम सेवा समिति का बजट इतना कभी बढ़ने नहीं दिया कि तामझाम और बड़ा प्रतिष्ठान खड़ा हो जाए। आश्रम की अचल संपत्ति भी नहीं जुटाई। वैसा आश्रम और वैसी संस्था नहीं बनाई जिसे चलाने के लिए पैसे लाने पड़ें जो बाद में हाथी की तरह दरवाजे पर बंध जाए, जिसे खिलाना ही सबसे बड़ा काम हो जाए।

"अब सब गांधी संस्थाएं मैनेजरों के हाथों में चली गई हैं।" बनवारीलालजी ने कहा– "हमारे पास मेनेज करने के लिए कुछ नहीं है। दो हजार रुपए साल का बजट है। इसे भी अगले साल से कम करने की बात है। साईकिल भी रखें तो उसे रखने का खर्चा होता है, जीप, ट्रैक्टर की तो बात ही अलग।" बनवारीलाल चौधरी ने अपना आश्रम और संस्था ऐसे ही असंग्रही भाव से चलाई।

गांधी तो निश्चित काम के लिए विशेष संस्था बनाने, साल भर के कार्यक्रम के लिए लोगों से पैसा लेने, संचित निधि में पैसा तक जमा न करने, हर बार धन के लिए लोगों के पास जाने और काम पूरा हो जाने के बाद संस्था को भंग कर देने के आग्रह वाले नेता थे। अब सब गांधी संस्थाएं मैनेजरों के हाथों में चली गई हैं। बनवारीलालजी ने कहा– "हमारे पास मेनेज करने के लिए कुछ नहीं है। दो हजार रुपए साल का बजट है इसे भी अगले साल से कम करने की बात है।

साईकिल भी रखें तो उसे रखने का खर्चा होता है, जीप, ट्रैक्टर की तो बात ही अलग।" बनवारीलाल चौधरी ने अपना आश्रम और संस्था ऐसे ही असंग्रही भाव से चलाई। कार्यक्रमों के लिए पैसे जरूर लिए, लेकिन उन्हीं पर खर्च किए। देश भर घूमे, सीखा, सिखाया। विदेश यात्राएं कीं। लौटकर निटाया ही आए। सरकार में, सर्वोदय आंदोलन में, ग्राम विकास के कार्यक्रम में, कहीं भी अपनी जगह घेर कर चिमटा भी नहीं गाड़ा। निटाया में भी चिमटा लटका ही हुआ है– आसमान में टंगी खूंटी की तरह।

डंकल प्रस्ताव तो कहता है कि आप अपने बीज भी नहीं रख सकते जो कि उनकी टेक्नॉलोजी से हमने पाए हैं। अपने बीज और उनकी अद्‌भुत विविधता तो हम बरबाद कर ही चुके हैं। सब तरफ यह टेक्नॉलोजी ले आईए तो आप किराएदार देश हो जाएंगे। जैसे घर की गरीबी दूर करने को कोई कर्ज ले घर गिरवी रखे। फिर घर कर्ज देने वाले का हो जाए और घरवाला उसी में किराया देकर रहे। वह किराया भी कर्ज देने वाले की नौकरी-चाकरी से निकले।

वे लेटकर अखबार पढ़ने लगे और मुझे लगा कि शायद दोपहर को थोड़ा सोते हों, इसलिए उन्हें छोड़कर मैं बाहर आंगन में आ बैठा।

अचानक मैंने देखा कि सन् बावन में एक नए समाज का सपना लेकर वे सेवाग्राम से अहिंसक क्रांति के लिए निकले हैं। चालीस साल उन्होंने अलख जगाई। समाज तो नहीं बदला। उलटे पश्चिमीकरण की प्रक्रिया तेज हुई। नए अहिंसक समाज के रामराज्य का सपना पश्चिम की टेक्नॉलोजी और सभ्यता के सामने पीछे पड़ता गया। अब कोई भारतीय सपना देश के सामने नहीं है।

किसी इजराइली भविष्य द्रष्टा ने बहुत पहले कहा था कि सोवियत संघ को पूंजीवाद नहीं पश्चिम की टेक्नॉलॉजी बिखेर देगी। बिखेर दिया। पश्चिम की टेक्नॉलोजी से भारत आत्म-साक्षात्कार कर सकता हो तो उससे कोई क्यों परहेज करे? लेकिन डंकल प्रस्ताव तो कहता है कि आप अपने बीज भी नहीं रख सकते जो कि उनकी टेक्नॉलोजी से हमने पाए हैं। अपने बीज और उनकी अद्‌भुत विविधता तो हम बरबाद कर ही चुके हैं। सब तरफ यह टेक्नॉलोजी ले आईए तो आप किराएदार देश हो जाएंगे। जैसे घर की गरीबी दूर करने को कोई कर्ज ले घर गिरवी रखे। फिर घर कर्ज देने वाले का हो जाए और घरवाला उसी में किराया देकर रहे। वह किराया भी कर्ज देने वाले की नौकरी-चाकरी से निकले।

हम अंग्रेजों से इसलिए आजाद हुए कि एक स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और अपनी परंपराओं से विकसित आदर्शवाले देश बन सकें। पर हम पश्चिम की स्वैच्छिक गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं। इस गांव निटाया के घर के बिस्तर पर अपंग लेटे हुए बनवारीलाल चौधरी को इस दोपहर के इस पल में अपने जीवन भर के किए धरे और अपने जीते रहने का क्या औचित्य लगता होगा? आखिर वे किसलिए जिए और जीते रहें? एक अपने को समर्पित जीवन का फलित क्या? जो आश्रम अपने समाज को बदलकर उस बदले हुए समाज में विलीन हो जाने के लिए बना था, वह उसमें अकेला और निरीह क्यों हो गया? क्या ये सवाल बनवारीलाल चौधरी से जवाब नहीं मांगते होंगे? लेकिन गांधी और विनोबा गए, मार्क्स और लेनिन गए, मिल्स और माल्थस भी गए। अलेक्जेंडर, अशोक और हिटलर भी गए। किसी का क्या रहा है जो रहने और होने से जीवन का औचित्य ठहराया जाए। सार्थकता अपने ढंग से अपने जीवन जीने और उसी में उसका औचित्य पाने में है। भवानीप्रसाद मिश्र बनवारीलाल चौधरी के मित्र थे। बनवारीलाल चौधरी कवि, साहित्यकार, लेखक नहीं हैं। लेकिन अपने मित्र की कविता से विभोर रहते हैं। इसीलिए भवानीप्रसाद मिश्र के जन्म दिवस पर निटाया में मित्र मिलन करते हैं। यह भवानी भाई के कवि होने और उनकी कविता पर ही टिप्पणी नहीं है– यह बनवारीलाल चौधरी पर भी एक बयान है। यह दोनों की खुशबू का शिलालेख है। नर्मदा के पानी पर तैर रहा है। पढ़ सकें तो पढ़िए।

हम अंग्रेजों से इसलिए आजाद हुए कि एक स्वतंत्र, आत्मनिर्भर और अपनी परंपराओं से विकसित आदर्श वाले देश बन सकें। पर हम पश्चिम की स्वैच्छिक गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं। इस गांव निटाया के घर के बिस्तर पर अपंग लेटे हुए बनवारीलाल चौधरी को इस दोपहर के इस पल में अपने जीवन भर के किए धरे और अपने जीते रहने का क्या औचित्य लगता होगा? आखिर वे किस लिए जिएं और जीते रहें? एक अपने को समर्पित जीवन का फलित क्या?

20 जुलाई 2014 को राजकमल प्रकाशन से छपी 'कहने को बहुत कुछ था' पुस्तक से। श्री प्रभाष जोशी के प्रतिनिधि लेखन का यह संकलन श्री सुरेश शर्मा द्वारा संपादित है।

*

टिप्पणियां

राजरोगियों की खतरनाक रजामंदी

अच्छे लोग भी जब राज के नजदीक पहुंचते हैं तो उनको विकास का रोग लग जाता है, भूमंडलीकरण का रोग लग जाता है। उनको लगता है सारी नदियां जोड़ दें, सारे पहाड़ों को, ऊंची-नीची भूमि को समतल कर दें बुलडोजर चला कर, उनमें खेती कर लेंगे। मात्र यही ख्याल प्रकृति के विरुद्ध है। यह प्रभु का काम है, सुरेश प्रभु सहित देश के अन्य प्रभु, देवी-देवता, नेता इस काम को न करें तो अच्छा है। नदियां प्रकृति ही जोड़ती है। गंगा कहीं से निकली, यमुना कहीं से निकली। अगर ऊपर से देखें तो एक ही पर्वत की चोटी से ठीक नीचे दो बिंदु-से दिखेंगे। वहां गंगोत्री और यमनोत्री में बहुत दूरी नहीं है। प्रकृति उन्हें वहीं जोड़ देती। लेकिन सब जगह अलग-अलग बहते हुए, सींचते हुए दोनों फिर कहां मिलें, यह प्रकृति ने तय किया था। तब वहां संगम बना। उसके बाद मुहाने की भी सेवा करनी है नदी को।

जब दामोदर नदी पर बांध बन रहा था, तब वहां श्री कपिल भट्टाचार्य नाम के एक इंजीनियर थे। वे किसी वैचारिक संगठन से नहीं जुड़े थे। लेकिन वे नदी से जुड़े हुए आदमी थे। उन्होंने अपने विभाग से अनुरोध किया कि दामोदर नदी घाटी योजना को रोक लें। लोगों ने कहा कि तुम क्यों इसे रोकना चाहते हो? इतने करोड़ की योजना है। इससे यह लाभ, वह लाभ होगा। इससे औद्योगिक विकास होगा। भट्टाचार्य ने कहा था कि दामोदर का प्रवाह रोकोगे तो वहां से नीचे मुहाने तक असर होगा। कोलकाता बंदरगाह नष्ट होगा। उसमें जहाज नहीं आ पाएंगे। उसकी गहराई कम हो जाएगी। नदी के जिस सहज प्रवाह से गाद बाहर जाती है, उसे मंहगे यंत्रों के जरिए बाहर निकालना पड़ेगा। करोड़ों रुपए खर्च होंगे, नदी की गहराई कृत्रिम तरीके से बढ़ाने के लिए।

यह भी चार-पांच साल कर पाओगे। फिर तब तक इतनी मिट्टी आ चुकी होगी कि यह भी बंद करना पड़ेगा। तब आपको बंदरगाह बदलना पड़ेगा। तब तक बांग्लादेश नहीं बना था। भट्टाचार्य ने यह भी कहा था कि इस बांध के कारण पड़ोसी देश के भी साथ आपके संबंध बिगड़ते जाएंगे।

तटबंध और नई से नई तकनीक से समुद्र का कोई संबंध नहीं होता। वह अपनी विशेष शक्ति रखता है। उसमें मनुष्य हस्तक्षेप करे, विज्ञान के विकास के नाम पर तो सचमुच प्रकृति उसे तिनके की तरह उड़ा देती है। सुंदरवन ऐसे ही समुद्री तूफानों को रोकते हैं। पाराद्वीप का सुंदरवन नष्ट हुआ, इसलिए उड़ीसा में चक्रवात आया। इसके आगे 'सुपर' विशेषण लगाना पड़ा था। अथाह जन-धन हानि हुई। अथाह बर्बादी। यह सब देखकर लगता है कि प्रकृति के खिलाफ अक्षम्य अपराध हो रहे हैं। इनको कोई भी क्षमा नहीं कर पाएगा। इसकी कोई सजा भी नहीं दी जा सकती। खुद सजा भोगनी पड़ती है।

नदी जोड़ना उस कड़ी में सबसे भयंकर दर्जे पर किया जाने वाला काम होगा। इसको बिना कटुता के जितने अच्छे ढंग से समझा सकते हैं, समझाना चाहिए। नहीं तो कहना चाहिए कि भाई या बहन पैर पर कुल्हाड़ी मारना चाहते हो तो मारो, लेकिन यह निश्चित पैर पर कुल्हाड़ी है। नेहरूजी के समय में भी यह 'कुल्हाड़ी' दिखती रही। टलती भी रही। लेकिन फिर अटलजी के समय यह एकदम सामने आ गई। उस दौर में केंद्रीय सरकार, विपक्ष पूरा, राष्ट्रपति, सारे बड़े अखबार और बड़ी अदालत एक स्वर में इसे गाने लगे थे। तो ऐसा करने वालों के नाम एक शिलालेख में लिख कर, दर्ज कर किसी बड़े पर्वत की चोटी पर लगा देना चाहिए। कम से कम आने वाली पीढ़ियों को इन सारे राजरोगियों की खतरनाक रजामंदी की ठीक जानकारी तो रहेगी।

इस मौके पर सर विलियम वेलॉक नाम के एक अंग्रेज अधिकारी को याद करना चाहिए। सन् 1938 में बंगाल प्रेसीडेंसी के इंजीनियरों के सामने उन्होंने छह भाषण दिए। वेलॉक ने अपने सभी युवा अधिकारियों के सामने कहा था कि 70-80 साल में अंग्रेजों ने जो नहरें बनाई हैं, उनका आर्थिक लाभ एक पलड़े में रखें और नुकसान दूसरे पर। नुकसान का पलड़ा कहीं ज्यादा भारी है। हमने पूरे बंगाल की सोनार-संस्कृति को नष्ट किया है। वेलॉक ने कहा था कि उत्पादन घटा है, नहरों के आने के बाद।

मध्यप्रदेश में तवा बांध को लेकर यही हुआ। सन् 73-74 के समय विवाद के कारण नर्मदा पर बांध नहीं बन सकते थे तो सहायक नदी तवा पर बांध बनाया गया। इस बांध के कारण खेतों में दलदल हो गया। काली मिट्टी वाले इलाके में, जहां अनाज भारी मात्रा में होता था, काफी नुकसान हुआ था। जर्मन विकास बैंक ने इस तबाही के कारण बदनामी को देखते हुए तवा बांध पर लगाए गए पैसे वसूलने की भी जरूरत नहीं समझी। चुपचाप खाता बंद कर दिया था और दृश्य से ही गायब हो गया था। उस समय अकेले गांधीवादी बनवारीलाल चौधरी ने तवा

बांध का विरोध किया था। (संयोग से उन पर इसी अंक में श्री प्रभाष जोशी का एक लेख है।)

वेलॉक ने अस्सी-नब्बे साल पहले कहा था कि नदियों का प्रवाह कम होने से उत्पादन घटा है। बाढ़ की संभावना बढ़ी है। खारापन, लवणीकरण इस इलाके में केवल नदियों को छेड़ने के बाद आया है। नदी जोड़ो योजना से पूरे मुहाने में यह सब कुछ और बढ़ेगा।

इस राजरोग पर खर्च कितना होगा? मत पूछिए! 56,00 के बाद करोड़ भी लिखा जा रहा है। थोड़ा बहुत गणित पढ़ा है। पर 56,00 करोड़ यानी 56,00 के बाद कितने शून्य लगेंगे, यह ठीक समझ नहीं आता। डर लगता है लिखते हुए। यह आंकड़ा भी सन् 2002 का बताया जाता है। तब के और अब के टमाटर के दाम भी कितने बढ़ गए– देख लें।

जिनका दिल देश के लिए धड़कता है, उन्हें नदी जोड़ो परियोजना पर प्रेमपूर्वक बात करनी चाहिए। जरूर कहीं कोई-न-कोई सुनेगा। यह दौर बहुत विचित्र है। इस दौर में सब विचारधाराएं और हर तरह का राजनैतिक नेतृत्व सर्वसम्मति रखता है सिर्फ विनाश के लिए।

इस विकास और विनाश वाले मामले में सबकी गजब की सर्वसम्मति है। इस सर्वसम्मति के बीच में हमारी आवाज दृढ़ता और संयम से उठनी चाहिए। जो बात कहनी है, वह दृढ़ता से कहनी पड़ेगी। प्रेम से कहने के लिए हमें तरीका निकालना पड़ेगा। सरकार के पक्ष को समझने की कोई जरूरत नहीं है। उसे समझने लगें तो ऐसी भूमिका हमें थका देगी।

हम कोई पक्ष नहीं जानना चाहते। हम कहना चाहते हैं कि यह पक्षपात है देश के साथ, देश के भूगोल के साथ, उसके इतिहास के साथ उसके भविष्य के साथ। यदि ये शब्द समझ नहीं आएं तो एक और शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। वह है 'भारतमाता'। यह भारतमाता के साथ भी अन्याय, अत्याचार है। भारतमाता कैलेंडर वाली नहीं। करोड़ वर्षों के भूगोल से बनी हाड़-मांस पत्थर, पर्वत यानी मिट्टी-पानी वाली असली भारतमाता।

अनुपम मिश्र

*

पत्र

गांधी-मार्ग का अंक मिला। उसमें अपना और गौतम बजाज का पत्र पढ़ा। नारायणदत्त जी ने एक बात और लिखी थी, श्री मैलविल डी मैलो के लेख के बारे में। वह यह कि राजेन्द्रप्रसाद जी इलाहाबाद नहीं गए थे। यह बात ठीक लगती है। राजधानी दिल्ली से प्रधानमंत्री और राजेन्द्र बाबू दोनों एक साथ अनुपस्थित रहें यह ठीक नहीं होता। फिर इलाहाबाद का विशेष संबंध नेहरूजी के साथ था। वह कुंभ का अवसर भी था। मेरी बहन के एक परिचित उस समय मेला अधिकारी थे। उन्होंने हमें आमंत्रित भी किया था। तब मैंने अपने छोटे भाई के साथ बहन को वहां भेजा था कि इलाहाबाद में ही अस्थिकलश के दर्शन कर लेना। मैंने तो कानपुर के निकट एक परिचित स्थान से चलती गाड़ी में रखे अस्थिकलश के दर्शन किए थे। कानपुर स्टेशन पर तो भीड़ इतनी थी कि कुछ देखना संभव नहीं था।

मेरे एक मामाजी फर्रूखाबाद से शिकोहाबाद गए थे दर्शन करने। अस्थि-प्रवाह में इलाहाबाद में मुख्य भूमिका नेहरूजी की ही थी। मैंने चलती गाड़ी में कलश वाले डिब्बे में विजयलक्ष्मी पंडित को भी देखा था। रात के नौ बजे थे तब।

विश्वनाथ टंडन,
1159, रतनलाल नगर,
कानपुर-208022, उत्तर प्रदेश

*

जुलाई-अगस्त अंक में श्री वीरेन्द्र कुमार का 'कहानी सूत की' खोजपूर्ण लेख पढ़ा। उन्होंने पहले वाक्य में यह लिखा है कि सच तो यह है कि कपास और सूत के इतिहास की किताब के आदिम पन्ने लुप्त और प्रायः अप्राप्त हैं। अनुमान का ही सहारा संभव है। इस संबंध में मैं सूचना देना चाहता हूं कि गांधी सेवा संघ ग्रंथालय के पास श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (स्वाध्याय मंडल, ओंध, सातारा, महाराष्ट्र) द्वारा लिखी पुस्तक वेद में चरखा की एक फोटोकॉपी की प्रति उपलब्ध है। पुस्तक 84 पृष्ठों की है। यह सन् 1922 में मुंबई वैभव प्रेस, सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसायटी बिल्डिंग, स्टेंडर्स रोड, गिरगांव, मुंबई से छपी है। पुस्तक में वेद के उद्धरण देकर सूत, चरखा, कपड़े आदि के बारे में सटीक जानकारी दी गई है।

शेर, शेरनी और हम लेख आधुनिक पढ़े लिखे समाज के समक्ष सुसंस्कृत समाज का नमूना पेश कर आईना दिखलाता है।

नई सरकार ने विकास के नाम पर 100 अत्याधुनिक शहर बनाने की बात रखी है। इसके सामने है गांधी का ग्रामस्वराज्य। हिन्दस्वराज्य का कथन भी देश को दिशा दिखलाएगा। शायद आज नहीं तो कल इसे आधुनिक समाज समझेगा।

ठोकर खाकर जो सीख मिलती है, लगता है उससे ही समझ बनती है।

कनकमल गांधी,
गांधी सेवा संघ, महादेवभाई भवन,
सेवाग्राम, वर्धा-442102, महाराष्ट्र

*

मई-जून अंक। 'यह कैसा लोकतंत्र?' में विनोबा ने सही लिखा है कि हमें लोकतंत्र के ढोंग से मुक्ति हासिल करनी होगी। गांव की मिली-जुली ताकत को खड़ा कर सत्ता विकेन्द्रित करने पर ही कुछ हासिल हो पाएगा। श्री कुमार प्रशांत का लेख 'हाथ से छूटा पारस' विज्ञान और अध्यात्म के बहाने गांधीजी पर घोर-गंभीर चर्चा प्रस्तुत करता है। गांधी की हत्या के बाद हम सब गांधी से दूर क्यों हो गए, इस पर उन्होंने विस्तार से लिखा है। उनका यह कहना बहुत ठीक है कि मन और रणनीति दोनों स्तरों पर आप अहिंसक नहीं बनेंगे तो स्वतंत्रता, सामाजिकता और संपन्नता भी नहीं पा सकेंगे। श्री विनोद कुमार ने 'इस विकास की कीमत' नामक लेख में नई औद्योगिक नीति का स्याह पक्ष हमारे सामने रखा है। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि नई औद्योगिक नीति विस्थापन और प्रदूषण जैसी समस्याओं पर विचार नहीं करती है।

श्री सोपान जोशी ने तेलंगाना के माध्यम से भाषा पहचान और क्षेत्रीयता की पहचान और क्षेत्रीयता की राजनीति पर खरे सवाल खड़े किए हैं। 'गांधी कायम हैं,' नामक लेख में श्री राधा भट्ट ने कोकराझार में किए गए सद्भावनापूर्ण कार्यों के माध्यम से एक बार फिर गांधीजी की प्रासंगिता सिद्ध की है। 'पुराना चावल' के अंतर्गत 'हमारे नए मंदिर' नामक 86 बरस पुराने लेख में काका कालेलकर ने मंदिरों की व्यवस्था और कर्मकांडों पर जो प्रश्नचिह्न लगाया है वह तो आज भी कायम है। 'पोथी पढ़ि-पढ़ि' में जानकीदेवी बजाज के माध्यम से गांधीजी और बा के व्यवहार संबंधी अनेक जानकारियां सहज ही प्राप्त हुईं। सुनीता नारायण की टिप्पणी भी प्रभावित करती है।

रोहित कौशिक,
टी-7, एकता अपार्टमेंट, कुबेर स्कूल
के सामने, रुड़की रोड, मेरठ, उत्तर प्रदेश

*

जुलाई-अगस्त। इस आरती को बुझा दो लेख बहुत अच्छा लगा। मेरे पास 2008 से अंक आ रहे हैं। मैं इन्हें सुरक्षित रखता हूं। इनमें समय-समय पर गांधीजी के और गांधीजी के बारे में छपे लेखों को बार-बार पढ़ता हूं।

सन् 2008 में 'गांधीवाद रहे न रहे' फिर 2009 में 'भंडार सोने का या सचाई का', 'करेंगे या मरेंगे' जैसे सुंदर लेख पढ़ने मिले। इन सबसे पाठक को गांधी-जीवन और विचार पढ़ने का अवसर मिलता है।

सब शंकाएं दूर होती हैं। जिस अंक में गांधीजी नहीं मिलते, उसमें विनोबा के लेख उस कमी को पूरा करते हैं। उदाहरण के लिए मई-जून 2009 में विनोबा जी का लेख 'गांधी-विचार और गांधी आचार।'

और अब इस कड़ी को जारी रखते हुए इस बार 'इस आरती को बुझा दो' लेख आया है। गांधीजी सत्ता हस्तांतरण के समय कहां थे, क्या कर रहे थे सब जाना, समझा।

खुशालसिंह कोली,
कीलखाना, फतेहपुर सीकरी, उत्तर प्रदेश

*

मेरा जन्म सन् 1990 का है। गांधीजी को लेकर मेरी जानकारी कुछ स्कूली पढ़ाई-लिखाई और फिर बाद में कुछ कही-सुनी बातों के आधार पर थी। उनकी यह गलती थी; ऐसे थे-वैसे थे; और न जाने क्या-क्या। पढ़ाई पूरी करने के बाद जीविका के लिए मैं फिल्म बनाने के काम से जुड़ा। कुछ फिल्मों में सहायक निर्देशक की तरह काम किया। ऐसे ही किसी सिलसिले में गांधी शांति प्रतिष्ठान और गांधी-मार्ग से मेरा परिचय हुआ। अब जब भी मौका मिलता है, यहां आकर और किताबों, पत्रिकाओं के अलावा गांधी-मार्ग के नए-पुराने अंक पलटता हूं।

जुलाई-अगस्त अंक में मुझे पहली बार पता चला कि जिस दिन हमें आजादी मिली थी, उस दिन गांधीजी कहां थे? यहां से कहीं दूर वे न जाने कितनी जगह घूम रहे थे। यह सब उस लेख 'इस आरती को बुझा दो' के माध्यम से मेरे लिए 'फिल्म' की सुंदर कहानी के रूप में सामने आया। इस फिल्म में प्रारंभिक एस्टब्लिशिंग शॉट की तरह चीजें उभरती हैं, जहां 15 अगस्त को झंडा फहराता हुआ दिखता है। और दूसरी ओर 'इन्टरकट' की भांति गांधीजी रेल के उस डिब्बे में बैठे दिखाई देते हैं, जिसकी छत चू रही है। कहानी आगे बढ़ती है; तो हम देखते हैं कि एक 'वाइड ऐंगल' शॉट में गांधीजी को जिंदा दफनाने की बात हो रही है! बातचीत आगे बढ़ने पर पता लगता है कि गांधीजी को दफनाने का मतलब उनके 'उसूलों को दफनाना' है। फिर 'इंटरकट' खतम होते ही 'मिड शॉट' में गांधीजी उसी रेलगाड़ी से पटना जाते हुए दिखते हैं, जिसमें वे उनके सिद्धांतों में जनता की आस्था न समाप्त होने का विश्वास दिलाते दिखते हैं। फिर श्रीनगर में गांधीजी पर जैसे 'चार्ज इन' शॉट सा लग जाता है और वे यह कहते दिखाई देते हैं कि हिंदुओं को जात-पांत छोड़कर शुद्ध बनना चाहिए। वे मुसलमानों को हिंदुओं के प्रति नफरत छोड़कर साफ होने की बात भी कहते हैं। इस फिल्म जैसे लेख की कहानी आगे बढ़ती है, जब गांधीजी लॉर्ड माउंटबैटन को प्रथम गर्वनर जनरल चुने जाने में सभी का गौरव बताते हैं और पूर्वाग्रह से मुक्ति की बात भी कहते हैं। तब आता है इसका 'मध्यांतर'। बड़ा सुंदर।

गांधीजी बिहार के राज्यपाल श्री जेरामदास को अपना सारा काम हिन्दी में करने के लिए प्रेरित करते हैं।

मध्यांतर होते ही दर्शक चाय-पानी

के लिए उठ सकते हैं, बाहर निकल आते हैं और इस फिल्म को आगे देखें या नहीं इसका निर्णय ले सकते हैं। यहां भी इस लेख को इसी जगह मध्यांतर मानकर आप इस किस्से को यहीं 'दफन' कर सकते हैं। पर यह फिल्म तब तक इस तरह जकड़-पकड़ लेती है कि इसे आप छोड़ नहीं सकते।

मध्यांतर के बाद इस लेख में 'ब्लॉक शॉट' आता है, जिसमें गांधीजी बी.बी.सी के प्रतिनिधि को यह कहते दिखाई देते हैं; कि उन्हें 'अंग्रेजी' नहीं आती। अब आगे चलते हैं, तो कलकत्ता में हिंदू-मुस्लिम साथ में झंडा फहराते हुए दिखते हैं। गांधीजी ठीक यही शब्द कहते दिखते हैं कि "मैं आशा करता हूं कि हावड़ा समेत सारा कलकत्ता सांप्रदायिकता के जहर से हमेशा के लिए मुक्त हो जाएगा।"

आगे हम देखते हैं कि शाम को बापू डाक के कुछ पत्र देख रहे हैं और थोड़ी देर बाद थक कर सो जाते हैं। सुबह का 'हवाई लाइट शॉट' उन्हें टहलता हुआ दिखाता है। 'टाइम लैप्स' होकर घड़ी में 10 बजते दिखते हैं तो बापू स्नान करके लौटते हैं और बाहर दर्शनार्थियों की भीड़ को पाते हैं। इस विचित्र फिल्म को 'शूट' करने में 'क्राउड कंट्रोल' करना बड़ा मुश्किल रहा होगा! इस शॉट को लेने के लिए शायद 'क्रेन' का इस्तेमाल किया जाता। पूरा दिन खत्म होता है और इस फिल्म का अंतिम दृश्य क्लाईमैक्स आने लगता है, धीरे-धीरे। एक छोटी-सी बच्ची बापू की आरती उतार रही है। बापू उससे बड़े प्यार से कहते हैं, इस आरती को बुझा दो। और अंत में उस गाड़ी का छूटना, जिसमें बैठकर बापू जा तो रहे हैं दिल्ली की तरफ पर उनका मन दिल्ली से उलटी तरफ घूम रहा है। वे मौन ले लेते हैं। कभी न बनी यह फिल्म मुझे बहुत कुछ सिखा गई है।

पल्लव गोयल,
सी-9, पालिका निवास,
लोधी कॉलोनी, नई दिल्ली-110003

गांधी-मार्ग जुलाई अगस्त के अंक में श्री बरनवालजी के लेख 'सूत की कहानी' के अंतिम हिस्से में एक पंक्ति हमारी असावधानी से छूट गई थी। उदार पाठकों से हम क्षमा मांगते हुए इस अंश को फिर से यहां दे रहे हैं। लेख में छूटी हुई पंक्ति गहरी स्याही में है:

चकित पुलिस की समस्या अब आक्रोश से नहीं बल्कि अभिभूत जन समुदाय के प्रेम से गांधी की रक्षा करने की थी। **गांधी के प्रेम लपेटे अटपटे बैन ने पासा पलट दिया था।** उस समय मजदूरों और उनके परिवार जनों से घिरे जो चित्र हैं, उनमें उनके चेहरों पर जो अभिभूत आनंद का भाव है, उसका वर्णन गद्य में असंभव-सा है। कोई रस सिद्ध समर्थ कवि ही उसके साथ न्याय कर सकता है।

गांधी-मार्ग हिन्दी परिवार

---

*

मध्यप्रदेश में सुशासन की एक और अभिनव पहल

सीएम हेल्पलाइन
181
जन हेतु-जन सेतु

जन हेतु–जन सेतु

सीएम हेल्पलाइन

टोल फ्री 181

सरकार और नागरिकों के बीच एक फोन का फासला

- सर्वसुविधायुक्त अत्याधुनिक कॉल सेंटर।
- विभिन्न विभागों द्वारा संचालित योजनाओं की जानकारी प्राप्त करने की सुविधा।
- जन शिकायतों का त्वरित एवं सुनिश्चित समाधान।
- यह सेवा प्रदेश में कहीं से भी प्रतिदिन प्रातः 7 से रात्रि 11 बजे तक उपलब्ध।
- नागरिकों की शिकायतों के निराकरण की जानकारी फोन और एसएमएस से प्रदाय की सुविधा।
- शिकायत के प्रकरणों में नागरिकों की संतुष्टि उपरांत निराकरण मान्य।

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

मध्यप्रदेश जनसम्पर्क द्वारा जारी

रजिस्टर्ड नं 4545/57

हमें समझना चाहिए कि गांधी चरित्र अनुकरणीय है। यदि हमने उनको अवतार आदि बना लिया तो मामला खतम हो जाएगा। मानव रूप में परमात्मा आ गए, ऐसा मानकर उपासना-भक्ति करना मनुष्य के लिए लाभदायी होता है। इसलिए मानवों को अवतार की आवश्यकता होती है, यह सच है। फिर भी राम-अवतार है, कृष्ण-अवतार है तो बस हो गया! अब इससे अधिक अवतारों की आवश्यकता नहीं। गांधीजी को अवतार बना दिया तो उनका हमारे लिए कुछ भी उपयोग नहीं होगा, सिवा इसके कि हम उनका नाम वगैरह लेते रहें।